डिप्लोमा इन एजुकेशन (डी.एड.)

(शिक्षा में पत्रोपाधि)

कला व कला शिक्षा

प्रथम वर्ष

प्रकाशन वर्ष 2010

राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्,

शंकरनगर, रायपुर, छ.ग.

प्रकाशन वर्ष –2010

राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् रायपुर छत्तीसगढ़

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

सुधीर कुमार अग्रवाल

संचालक राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् रायपुर छत्तीसगढ़

तकनीकी सहयोग एवं सामग्री संकलन

एकलव्य, भोपाल , छत्तीसगढ़ शिक्षा संदर्भ केन्द्र रायपुर,

समन्वय

आर.के. वर्मा, सहायक प्राध्यापक

एवं

डेकेश्वर वर्मा, प्रधानाध्यापक

विशेष सहयोग

यू.के. चक्रवर्ती, सहायक प्राध्यापक

विषय संयोजक

श्री बी.आर.साहू ,प्रधानाध्यापक

श्री डेकेश्वर वर्मा ,प्रधानाध्यापक

राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् रायपुर उन सभी लेखकों/प्रकाशकों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है जिनकी रचनाएं आलेख इस पुस्तक में समाहित है।

प्रकाशक – **छत्तीसगढ़ पाठ्यपुस्तक निगम रायपुर**

प्राक्कथन

विद्यालय में अध्ययनरत् बच्चे भविष्य में राष्ट्र के स्वरूप व दिशा निर्धारण करेंगे। शिशुकरण बच्चों को कुम्हार की भाँति गढ़ता है और वांछित स्वरूप प्रदान करता है इस गुरूतर दायितव के निर्वहन के लिए शिक्षकों को बेहतर तरीके से तैयार करना होगा।

''शिक्षा बिना बोझ के'' यशपाल समिति की रिपोर्ट (1993) ने माना है कि शिक्षकों की तैयारी के अपर्याप्त अवसर से स्कूल में अध्ययन अध्यापन की गुणवत्ता प्रभावित होती है। इन कार्यक्रमों की विषयवस्तु इस प्रकार पुननिर्धारित की जानी चाहिए कि स्कूली शिक्षा की बदलती आवश्यकताओं के संदर्भ में उसकी प्रासंगिकता बनी रहें। इन कार्यक्रमों में प्रशिशुओं में स्वशिक्षक और स्वतंत्र चिंतन की क्षमता के विकास पर जोर होना चाहिए।

कोठारी आयोग (64.66) से ही यह बात की जाने लगी थी कि शिक्षा में गुणात्मक सुधार के लिए शिक्षकों को बतौर पेशेवर तैयार करना अत्यंत जरूरी है।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 ने भी शिक्षकों की बदलती भूमिका को रेखांकित किया है। आज एक शिक्षक के लिए जरूरी है कि वह बच्चों को जाने, समझे, कक्षा में उनके व्यवहार को समझे, उनके सीखने के लिए उपयुक्त माहौल तैयार करें, उनके लिए उपयुकत सामग्री व गतिविधियों का चुनाव करें, बच्चे की जिज्ञासा को बनाए रखे, उन्हें अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करें व उनके अनुभवों का सम्मान करें।

तात्पर्य यह कि आज की जटिल परिस्थितियों में शिक्षकों की भूमिका कही अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण व महत्वपूर्ण हो गई है। इसी परिपेक्ष्य में सेवापूर्ण प्रशिक्षण को और कारगर बनाने की आवश्यकता है। शिक्षक शिक्षा में आमूल चूल बदलाव की आवश्यकता बताते हुए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 में शिक्षकों की भूमिका के संबंध में कहा गया है कि सीखने सिखाने की परिस्थितियों में उत्साहवर्धक सहयोगी तथा सीखने को सहज बनाने वाले बने जो अपने विद्यार्थियों को उनकी प्रतिभाओं की खोज में उनकी शारीरिक तथा बौद्धिक क्षमताओं को पूर्णता तक जानने में, उनमें अपेक्षित सामाजिक तथा मानवीय मूल्यों व चरित्र के विकास में तथा जिम्मेदार नागरिकों की भूमिका निभाने में समथ्र बनाएं।

प्रश्न यह है कि शिक्षक को तैयार कैसे किया जाए। बेहतर होगा कि विद्यालय में प्रवेश के पूर्व ही उसकी बेहतर तैयारी हो, उसे विद्यालय के अनुभव दिए जाए। सेवापूर्व प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम व विषयवस्तु को फिर से देखने की जरूरत है। इसी परिपेक्ष्य में डी.एड. के पाठ्यक्रम में बदलाव किया गया है।

पाठ्यसामग्री का फोकस शिक्षक विधि से हटकर शिक्षा की समझ, विषयों की समझ, बच्चों के सीखने के तरीके की समझ, समाज व शिक्षा का संबंध जैसे पहुलओं पर केन्द्रित है। पाठयक्रम में शिक्षण के तरीकों पर जोर देने के स्थान पर विषय की समझ को महत्व दिया गया है। शिक्षा के दार्शनिक पहलू को समझने, पाठ्यचर्या के आधारों को पहचानने और बच्चों की पृष्ठभूमि में

विविधता व उनके सीखने के तरीकों को समझने की शुरुआत की गई हो। प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रम में इन छः विषयों को सम्मिलित किया गया है–

1. ज्ञान, शिक्षाक्रम व शिक्षण शास्त्र
2. बाल विकास और सीखना
3. शाला व समुदाय
4. कला शिक्षा
5. गणित व गणित शिक्षण
6. भाषा व भाषा शिक्षण

चयनित पाठ्यसामग्री में कुछ लेखक/प्रकाशकों की पाठ्य सामग्री प्रशिक्षार्थियों के हित को ध्यान में रखकर ज्यों की त्यों ली गई है कहीं कहीं स्वरूप में परिवर्तन भी किया गया है कुछ सामग्री अंग्रेजी की पुस्तकों से लेकर अनुदित की गई है। हमारा प्रयास यह है कि प्रबुद्ध लेखकों की लेखनी का लाभ हमारे भावी शिक्षकों को मिल सकें। इग्नू और एन.सी.इ.आर.टी. सहित जिन भी लेखकों/प्रकाशकों की पाठ्यसामग्री किसी भी रूप में उपयोग की गई है, हम उनके हृदय से आभारी है। हम विद्या भवन सोसायटी उदयपुर, दिगंतर जयपुर, एकलव्य भोपाल, अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन बेंगलोर, आई.सी.आई.सी. फाउण्डेशन पुणे, आई.आई.टी. कानपुर, छ.ग. शिक्षा संदर्भ रायपुर के अभारी हैं जिनकी टीम ने एस.सी.ई.आर.टी. और डाइट के सदस्य संकाय सदस्यों के साथ मिलकर पठन–सामग्री को वर्तमान स्वरूप प्रदान किया।

अंत में पाठ्यसामग्री तैयार करने में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से सहयोगी बंधुओं का हम पुनः आभार व्यक्त करते हैं। पाठ्यक्रम तैयार करने व पाठ्य सामग्री के संकलन व लेखन कार्य से जुड़े लेखन समूह सदस्यों को भी हम धन्यवाद देना चाहेंगे जिनके परिश्रम से पाठ्यपुस्तक को यह स्वरूप दिया जा सका। पुस्तक के संबंध में शिक्षक प्रशिक्षकों, प्रशिक्षार्थियों के साथ–साथ अन्य प्रबुद्धजनों, शिक्षाविदों के भी सुझावों व आलोचनाओं की हमें अधीरता से प्रतीक्षा रहेगी जिससे भविष्य में इसे और बेहतर स्वरूप दिया जा सकें।

धन्यवाद!

संचालक
राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण
परिषद रायपुर, छत्तीसगढ़

अनुक्रमणिका

	पेज न.
1. कला क्या है	1
2. शिक्षा में कला का स्थान	3
3. कला शिक्षण क्यों?	7
4. बच्चों के नज़र से	25
5. बालकों की सृजनात्मक क्षमता की हत्या	29
6. रंग बिरंगा—रंगमंच	36
7. खुलते अक्षर खिलते अंक	48
8. मेरी अपनी दुनिया	63
9. एक आधार अनेक आकार	68
10. बच्चों के चित्रों का विकास—क्रम,	83
11. शिक्षा—पद्धति	91
12. कला—परिचय	105
13. प्राथमिक शाला में नाटक	109
14. कठपुतली मार्गदर्शिका	156

पठन सामग्री 1

कला क्या है ?

ज्यादातर कलाकार यह मानेंगे कि कला को परिभाषित करना उचित नहीं है। कला को परिभाषित करना उसे सीमित करना होगा जो किसी कलाकार को स्वीकार्य नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि हर इंसान कला की कुछ तो समझ रखता है और अपने जीवन में आजमाता है। इस कारण कला का तात्पर्य हर इंसान के लिए अलग होगा, हर समाज व समय के लिए भी।

फिर भी कला किन बातों से संबंध रखती है, इसका हम कुछ खुलासा कर सकते हैं ताकि आपको इसके बारे में सोचने व अपनी ही समझ को विकसित करने में मदद मिलेगी।

1. सबसे पहले तो निस्संदेह हम कह सकते हैं कि कला मनुष्य व मानव समाज द्वारा निर्मित है और प्रकृति नहीं है। प्रकृति में हम सुन्दरता देख सकते हैं या प्रकृति से कलात्मक प्रेरणा ले सकते हैं। लेकिन कला का निर्माण मनुष्य अपने श्रम व कल्पना से करता है। कई लोग मानते हैं कि प्रकृति या सृष्टिकर्ता खुद एक महान कलाकार है, मगर ऐसा मानना उस पर मनुष्यत्व आरोपित करना होगा।

2. कला का संबंध सृजनात्मकता व सृजनात्मक अभिव्यक्ति से है। मनुष्य की एक खास पहचान है कि उसे जिस प्रकार की दुनिया मिली है वह उसे रास नहीं आती है और वह एक बदली दुनिया की कल्पना करते रहता है और उसे साकार करने के लिए प्रयास करता रहता है। अगर आपको किसी चीज में कल्पना या सृजनशीलता की कमी लगती है तो आप उसे कम कलात्मक मानेंगे। यूं तो हमारी हर क्रिया या उत्पाद हमारी अभिव्यक्ति होती है, मगर कला के माध्यम से हम अपनी बात को दूसरों तक पहुंचाने का प्रयास करते हैं। यूं कह सकते हैं कि कला स्वांतः सुखाय नहीं होती है। लेकिन इस विचार को लेकर मतभेद हो सकता है क्योंकि कई परंपराओं में कला को व्यक्ति व परमतत्व को जोड़ने वाला माध्यम माना गया है जिसमें दूसरे मनुष्य के लिए कोई भूमिका नहीं है।

3. कला का संबंध कहीं न कहीं सुन्दरता व सौन्दर्यबोध से है। शायद हर मनुष्य किसी न किसी रूप में सौन्दर्य की खोज में रहता है और उसे अपने कृतियों में उतारना चाहता है। लेकिन यहां एक पेंच है। मानव समाज अक्सर सुन्दरता का मापदण्ड निर्मित कर देता है, और उसकी मदद से सौन्दर्य को आंकने का प्रयास करता है। लेकिन मनुष्य इस माप या परिभाषा से बंधना पसंद नहीं करता है, और सतत सौन्दर्य के नए आयामों को खोजता रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि किसी बात को जिसे आज समाज कुरुप या भद्दा मानता है, वह एक नए सौन्दर्यशास्त्र का आधार बन जाता है।

4. कला ऐंद्रिक होती है यानी कलात्मक चीज़ों को हम अपने इन्द्रियों से निर्माण करते हैं और अपने इन्द्रियों से देख, सुन, छू, सूंघ, हां चख भी सकते हैं। यानी कला केवल कल्पना या सोचने की चीज़ नहीं है। वह ठोस निर्माण भी है। रंग, आकार, टेक्स्चर, आवाज़, स्वाद, गंध कला के माध्यम से इनके नए–नए आयामों को हम खोलते रहते हैं। इससे हमारी इंद्रियां और परिष्कृत व बारीक बातों के प्रति संवेदनशील होती जाती हैं, हर पल नए रंग, नई आकृति आदि हो देखने लगते हैं।

5. कला को मनुष्य जीवन के बाकी अंगों से अलग नहीं किया जा सकता है। उसके उत्पादन कार्य से, उसकी जीवन यापन क्रियाओं से, उसकी अपनी आत्म छवि से सामाजिक संघर्षों व विडंबनाओं से– कला इन सब को प्रभावित करती है प्रतिबिंबित करती है और उनसे प्रभावित होती है। लेकिन इन सबके बीच कोई यांत्रिक प्रभाव का रिश्ता नहीं है– यह रिश्ता बहुत जटिल व द्वंदात्मक है।

6. ''कलाकार कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं होता है मगर हर व्यक्ति एक विशिष्ट कलाकार होता है''। – यह महान कला चिंतक आनन्द कुमारस्वामी का कथन है, इस कथन पर गौर करें।

7. **जीवनशैली में कलात्मकता** – हम सब अपने दैनिक जीवन को किसी न किसी रूप में कलात्मक बनाने का प्रयास करते हैं। हमारे मन में व आचरण में एक खास सौन्दर्यबोध व कलाबोध निहित होता है। आमतौर पर यह परिष्कृत या सचेत नहीं होता। हम अपने घरों को कैसे सजाते हैं, लिपाई पुताई कैसे करते हैं, किस तरह के कपड़े पहनते हैं, बिस्तर पलंग कैसे रखते हैं, कैसे बर्तन इस्तेमाल करते है, उन्हें किस तरह से जमाते हैं, चूल्हा चौका कैसे रखते हैं, पूजा आराधना के जगह को कैसे रखते हैं, इन सब में गहरी कलादृष्टि समाई रहती है। लेकिन हम इनके बारे में सचेत नहीं होते हैं, हम उनके बारे में सोचते नहीं है और उनके नष्ट होने का अहसास भी नहीं करते हैं। आधुनिक जीवन में हमारे उपर लगातार नए कलात्मक प्रभाव पड़ते रहते हैं– अगर हम कलात्मकता के बारे में सचेत होकर चुनाव नहीं करते हैं तो हम बेतरतीब कला खिचड़ियों का शिकार हो सकते हैं। इसके लिए जरूरी है कि हम विभिन्न जीवनशैलियों, परंपराओं में कलाबोध के बारे में और खासकर हमारी अपनी सांस्कृतिक परंपरा के सौन्दर्यबोध के बारे में सचेत होकर समझें। जो भी चुनाव करें उसे सोच समझकर करें।

8. **लोक कला व व्यावसायिक कला** लोककला की खासियत यह है कि वह लोक जीवन का अभिन्न अंग होती है। लेकिन काफी रुढ़ परंपराओं से बंधी होती है। उस संस्कृति का हर व्यक्ति उसका अनायास साधक होता है। लोक गीत हर कोई गाता है, रंगोली या मांडना हर कोई कर लेता है, लोक नृत्य हर कोई नाचता है। हां यह जरूर है कि अक्सर कुछ विशिष्ट लोक कलाकार होते हैं, जो आम लोगों के कलात्मक जरूरतों को पूरा करते हैं, जैसे कोई पंडवानी गायक होगा या फिर कोई कुम्हार या सोनार या ठठेरा होता है। कई लोग मानते हैं कि लोक कला ही सभी व्यावसायिक व उच्च कला की अंतिम प्रेरणा का स्त्रोत हैं, और इसके कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध शास्त्रीय गायक पं. कुमार गंधर्व पर मालवी लोक गायन का गहरा प्रभाव था। या फिर उस्ताद बिस्मिल्ला खान के शहनाई वादन में पूर्वी लोक धुनों की अमिट छाप थी। नन्दलाल बसु जैसे आधुनिक चित्रकार या मूर्तिकार लोक कला से बहुत प्रभावित हुए।

भारतीय कला परंपराओं में इस विभेद को देशी व मार्गी परंपरा के रूप में देखा गया है। देशी मतलब लोक कला व मार्गी मतलब शास्त्रीय व्यावसायिक कला।

मार्गी कला व देशी कला में शायद हम कई तरह के अंतर कर सकते हैं, (जैसे मार्गी कला का शास्त्र होता है, वह व्यावसायिक होती है, अधिक सृजनशील होती है, रुढिबद्ध नहीं होती है, उसका क्षेत्र विस्तार बड़ा होता है आदि। मगर उनमें से कई को तर्क के आधार पर सही ठहरा नहीं सकते हैं। हम शायद यही कह सकते हैं कि समृद्ध व ताकतवर लोगों के लिए जो कला का निर्माण होता है उसे शास्त्रीय कला का दर्ज़ा दिया जाता है ठीक उसी तरह जैसे बोली व भाषा के संदर्भ में होता है।)

9. **कला और शिल्प या कारीगरी :** हर उत्पादक कार्य करने वाला कुछ कलाबोध रखता है और उसे अपने उत्पादन में अभिव्यक्त करता है। इस कारण बहुत सी परंपराओं में कला व शिल्प में विभेद नहीं किया जाता है। संस्कृत में मूर्तिकार या चित्रकार को शिल्पिन कहा जाता है। कुछ हस तरह की बात ग्रीक या लैटिन में भी हैं लेकिन आधुनिक पश्चिमी विचारधाराओं में सृजनात्मक ललित कला व शिल्प को अलग किया जाता है। कारीगर बार–बार एक ही तरह की चीज़ को बनाता है– जैसे कि एक कुम्हार या प्लास्टर आफ पैरिस से मूर्तियां बनाने वाले लोग। ऐसे में वह चीज़ तो कलात्मक होती है मगर वह कलाकार नहीं होता है। जैसे कि किसी महान चित्रकार के चित्रों का नकल बनाने वाले। यह माना गया है कि ऐसे कामों में सृजनात्मकता की कमी है। लेकिन इस बात को लेकर मतभेद जरूर है।

आधुनिक पाश्चात्य कला में सृजनशीलता व व्यक्तिवाद पर काफी ज़ोर दिया गया है। जिस काम में किसी खास व्यक्ति की सोच या खास व्यक्तित्व नहीं झलकता है, व जो सृजनशीलता व नयापन का प्रमाण नहीं देता है, भले ही वह सुन्दर व कलात्मक हो, उसे कलाकृति कहने से यह परंपरा कतराती है। इस विचार को किस हद तक आप स्वीकार करना चाहते हैं यह आप पर है। लेकिन हमें यह याद रखना होगा कि 1500 ईस्वी से पहले हम केवल इक्के–दुक्के कलाकारों के ही नाम जानते हैं। यानी कई कला परंपराएं हैं जो व्यक्तिवाद को कला का अभिन्न अंग नहीं मानती हैं।

नन्दलाल बसु हमारे देश के महान कलाकारों में से थे जो रवीन्द्रनाथ टैगोर के शांतिनिकेतन में पढ़ाते थे। आज भी उनके चित्र शांतिनिकेतन और दिल्ली के राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय में देखे जा सकते हैं। इस लेख में वे कला शिक्षण की जरूरत पर जोर दे रहे हैं और कला विषय में रुचि जागृत करने के कुछ तरीके सुझाये हैं। उनके शिष्य देवी प्रसाद बाद में गांधी जी के सेवाग्राम में स्थापित बुनियादी शाला में कला पढ़ाते थे और उनकी पुस्तक शिक्षा का वाहन कला के कई अंश हम आगे पढ़ेंगे। **संपादक**

शिक्षा में कला का स्थान

नन्दलाल बसु

मनुष्य ने आनन्द की प्राप्ति और ज्ञान के लिए जितने उपायों का विकास किया है, उनमें भाषा का विशेष स्थान है। साहित्य, दर्शन, विज्ञान और प्रकृति के नाना विषयों की चर्चा भाषा को माध्यम बनाकर ही की जाती है। साहित्य मनुष्य को आनन्द देता है, पर उसकी अभिव्यक्ति का क्षेत्र सीमित होता है! उसके उस अभाव की पूर्ति करती हैं ललित कलाएं– नृत्य, संगीत एवं दूसरी कलाएं। जैसे साहित्य की अभिव्यक्ति की अपनी विशिष्टता है, वैसे ही नृत्य, संगीत एवं ललित कलाओं की भी। मनुष्य अपनी इन्द्रियों द्वारा, मन द्वारा बाह्यजगत की समस्त वस्तुओं का स्थूल ज्ञान एवं उनके प्रति रसानुभूति का अनुभव करता है और उसे ही कला के माध्यम से दूसरों के सामने परिवेशित करता है! शिक्षा के क्षेत्र में कला की चर्चा के कारण मनुष्य की अवधारणा एवं रसानुभूति दोनों उत्कर्ष को प्राप्त करती हैं और उसे कलात्मक अभिव्यक्ति पर अधिकार प्राप्त होता है। जिस प्रकार आंख का काम कान द्वारा नहीं हो सकता, उसी प्रकार चित्रकला, संगीत या नृत्य की शिक्षा केवल लिखने–पढ़ने से नहीं हो सकती।

यदि हमारी शिक्षा का उद्देश्य सर्वागीण विकास हो तो हमारे पाठ्यक्रम में कला का स्थान अन्यान्य पढ़ाई–लिखाई के विषयों के समान होना चाहिए। हमारे देश में विश्वविद्यालयों की ओर से अब तक जो व्यवस्था की गई है, वह नितान्त अपर्याप्त है। इसका एक कारण सम्भवतः यह है कि हमारे यहां अनेक लोगों की मान्यता है कि कला–साधना मात्र पेशेवर कलाकारों का काम है, साधारण आदमी को उससे कुछ लेना–देना नहीं है। बहुत से पढ़े–लिखे लोग तक कला के सम्बन्ध में अपने अज्ञान के कारण संकोच का अनुभव नहीं करते, जन साधारण की तो बात ही छोड़िए। वे तो फोटो और चित्र का अन्तर भी नहीं समझ पाते। वे बच्चों की जापानी गुड़िया को एक श्रेष्ठ कलाकृति मानकर उसे अवाक् देखते रहते हैं। महारद्दी लाल–नीले, बैंगनी रंगवाले रैपरों को देखकर उनके नेत्रों को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती। सच पूछिए तो उन्हें अच्छा ही लगता है। अधिक उपयोगिता की दुहाई देते हुए आसानी से उपलब्ध मिट्टी की कलसी के बदले टिन का कनस्तर इस्तेमाल करते हैं। ऐसी स्थिति के लिए देश का शिक्षित समाज एवं विश्वविद्यालय उत्तरदायी है। उपर से देखने से विद्या के क्षेत्र में देशवासियों की जैसी सांस्कृतिक उन्नति परिलक्षित होती है, रसानुभूति के क्षेत्र में उनकी दीनता वैसी ही बढ़ती दिखलाई पड़ती है। वस्तुतः यह स्थिति कष्टदायक हो उठी है। इससे मुक्त होने का एक ही उपाय है– आज के शिक्षित समाज के बीच कला की शिक्षा का प्रचलन, क्योंकि यह शिक्षित समाज ही जन साधारण का आदर्श होता है।

सौन्दर्य बोध के अभाव में मनुष्य केवल रसानुभूति से वंचित रह जाता हो ऐसा नहीं, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उसकी क्षति होती है। सौन्दर्यबोध के अभाव में जो लोग घर के आंगन और कमरों में दुनिया भर का कूड़ा जमा करके रखते हैं, अपने शरीर एवं वस्त्रों की गंदगी साफ नहीं करते, घर की दीवाल पर, रास्ते में, रेल के डिब्बों में पान की पीक थूकते चलते हैं, वे केवल अपने स्वास्थ्य को ही नहीं वरन् पूरे

राष्ट्र के स्वास्थ्य को क्षति पहुंचाते हैं। जिस प्रकार उनके द्वारा समाज के शरीर में नाना रोगों के कीटाणु संक्रमित होते हैं, उसी प्रकार उनके कुत्सित आचरण का कु–आदर्श भी जन साधारण में फैल जाता है।

हममें से कुछ लोग ऐसे हैं जो कला–साधना पर विलासी एवं धनी लोगों का एकमात्र अधिकार मानते हैं और इस प्रकार उसे अपने दैनन्दिन जीवन से कोसों दूर रखना चाहते हैं। वे भूल जाते हैं कि सौन्दर्य ही कला का प्राण है, अर्थ की तुला पर कलाकृति को नहीं तोला जा सकता। गरीब संथाल अपनी छोटी–सी मिट्टी की झोपड़ी को लीप–पोतकर साफ करके रखता है, अपनी कथरी–गुदड़ी समेटकर रखता है और कॉलेज में पढ़ने वाला एक लड़का महल जैसे सुन्दर हॉस्टल या मेस के कमरे में महंगे कपड़े–लत्ते यों ही बिखेरकर मोड़–मुसड़कर रखता है। स्पष्ट है कि गरीब संथाल का सौन्दर्य–बोध उसके जीवन का अंग है, सजीव है, और धनी लड़के का सौन्दर्यबोध कपड़ों तक सीमित है, निर्जीव है। पढ़े–लिखे लोगों को कला–साधना के नाम पर कैलेण्डर में छपे मेमसाहब के चित्र को फ्रेम में मढ़वाकर एक सचमुच के अच्छे चित्र के बगल में टांगकर रखते हुए मैंने स्वयं देखा है। छात्रों में देखता हूं, चित्र के फ्रेम पर कपड़ा झूल रहा है, पढ़ने के टेबल पर चाय का कप, शीशा, कंघी आदि पड़े हैं और कोको के टिन में कागज का फूल लगा है। साज–सज्जा में धोती पर खुले गले का कोट, साड़ी के साथ उंची एड़ीवाला मेमसाहबी जूता–हर कहीं संगति और सौन्दर्य का अभाव दिखलाई पड़ता है। हमारे पास पैसे का अभाव हो या न हो, सौन्दर्यबोध का अभाव अवश्य है।

कुछ और लोग भी हैं जो कहते हैं – आर्ट करके पेट भरेगा क्या? यहां एक बात ध्यान में रखनी होगी। जिस प्रकार साहित्य के दो पक्ष हैं– एक आनन्द और ज्ञान का पक्ष तथा दूसरा आर्थिक पक्ष, उसी प्रकार कला के भी दो पक्ष हैं– एक जो आनन्द देता है और दूसरा जो अर्थ देता है। इनको ललितकला और शिल्प कहा जाता है। ललितकला दैनन्दिन दुख–द्वन्द्व से संकुचित हमारे मन को मुक्ति प्रदान करती है। शिल्प हमारे दैनन्दिन उपयोग में आने वाली वस्तुओं को केवल अपने जादुई स्पर्श से सुन्दर बनाकर हमारी यात्रा को सुखमय ही नहीं बनाता वरन् अर्थोपार्जन का आधार बनाता है। शिल्प की अवनति के फलस्वरूप देश की आर्थिक अवनति भी हुई है। अतः आवश्यकतानुसार कला तथा शिल्प का उपयोग न करने से देश की बहुत आर्थिक क्षति भी होती है।

कला शिक्षण के अभाव में न केवल हमारी वर्तमान जीवन–यात्रा असुन्दर हो गई है वरन् हमारे अतीत के रस–सृष्टाओं द्वारा निर्मित रचनाओं की सौन्दर्य–निधि से भी हम वंचित हुए जा रहे हैं। हम लोगों की परखने की दृष्टि तैयार नहीं हो सकी फलस्वरूप देश में चारों ओर बिखरी चित्रकला, मूर्तिकला एवं स्थापना के सौन्दर्य को समझाने के लिए बाहर से विदेशियों के आने की आवश्यकता पड़ी। आधुनिक कलाकृतियों का भी जब तक विदेशी बाजारों में मूल्यांकन नहीं हो जाता तब तक हमारे यहां उनका आदर नहीं होता यह हमारे लिए लज्जा की बात है।

इनके निराकरण के लिए क्या किया जाए, इस पर विचार किया जाए। कला शिक्षा की पहली मांग है कि प्रकृति को एवं अच्छी कलात्मक वस्तुओं को श्रद्धा सहित देखा जाए, उनके निकट रहा जाए और जिन व्यक्तियों का सौन्दर्य बोध जाग्रत है उनसे उस सम्बन्ध में चर्चा करके कलाकृति के सौन्दर्य को समझा जाए। विश्वविद्यालयों का यह कर्तव्य है कि अन्यान्य विषयों के साथ–साथ वे कला विषय को भी पाठ्यक्रम में रखें, परीक्षा की दृष्टि से कला को अनिवार्य विषय मानें और विद्यार्थी प्रकृति के निकट सम्पर्क में आ सकें, इसकी व्यवस्था करें। अंकन–पद्धति की शिक्षा से विद्यार्थियों की पर्यवेक्षण शक्ति का विकास होगा और इससे साहित्य, दर्शन, विज्ञान प्रभृति विषयों के क्षेत्र में भी उन्हें सत्य दृष्टि प्राप्त होगी। विश्वविद्यालयों की परीक्षा पास करने से ही कोई बड़ा कवि नहीं बन जाता। उसी तरह विश्वविद्यालय में कला की शिक्षा प्राप्त करके ही हर लड़का अच्छा कलाकार नहीं बन सकेगा। ऐसी आशा करना भूल होगी।

सबसे पहले विद्यालय में, लाइब्रेरी में, पढ़ने के कमरे तथा रहने के कमरे में कुछ अच्छे चित्र एवं मूर्तियां तथा अन्यान्य ललित कला एवं दस्तकारी वाली कृतियां सजाकर रखनी होंगी। उनके अभाव में इनके अच्छे फोटो या नकल रखी जा सकती है। दूसरी बात, उपयुक्त व्यक्तियों द्वारा ऐसी अनेक पुस्तकें लिखवानी होंगी जिनमें अच्छी कलाकृतियों के चित्र हों, उनका इतिहास हो और जो लड़कों को सहज ही समझ में आएं।

तीसरी बात, बीच–बीच में फिल्मों के माध्यम से स्वदेश एवं विदेश की चुनी हुई अच्छी कलाकृतियों से विद्यार्थियों का साक्षात्कार कराना होगा।

चौथी बात, बीच–बीच में योग्य शिक्षकों के साथ पास के अजयाबघर या आर्ट गैलरी में विद्यार्थियों को भेजना होगा ताकि वे श्रेष्ठ कृतियां देख सकें। स्कूलों में यदि फुटबाल मैच देखने के लिए भेजने का इंतजाम किया जा सकता है तो आर्ट गैलरी देखने के लिए क्यों नहीं? एक बात ध्यान में रखिए कि एक अच्छी कलाकृति को अपनी आंखों से देखकर एवं समझकर जितनी कला की परख विकसित होती है उतनी एक सौ भाषण सुनकर भी नहीं होती। अच्छे चित्र या अच्छी मूर्तियां यदि बचपन से बच्चे देखते रहें तो कुछ समझ में आए या न आए, उनकी दृष्टि तैयार होगी। बाद में उनमें अपने आप अच्छी–बुरी कलाकृति का विवेचन करने की शक्ति पैदा होगी और उनका सौन्दर्यबोध विकसित होगा।

पांचवी बात, प्रकृति के निकट सम्पर्क में बच्चे आएं, इस उद्देश्य से हर ऋतु में विशेष उत्सवों का आयोजन करना होगा। इन आयोजनों में इस ऋतु–विशेष में पैदा होने वाले फल–फूलों का संग्रह करना और काव्य तथा कला के क्षेत्र में उस ऋतु से संबंधित जो भी श्रेष्ठ रचनाएं उपलब्ध हैं, उनसे जहां तक सम्भव हो, विद्यार्थियों को परिचित कराना उचित होगा।

छठी बात, प्रकृति में जो ऋतु उत्सव चल रहा है, उससे विद्यार्थियों को परिचित कराना। शरत् ऋतु में धान के खेत और कमल से भरे तालाब (अर्थात् कमल–वन) तथा वसन्त–ऋतु में पलाश और शिमूल की बहार वे स्वयं अपनी आंखों से देख सकें, इसकी व्यवस्था करनी होगी। विशेषकर शहर में रहने वाले विद्यार्थियों के लिए यह व्यवस्था बहुत जरूरी है। गांव के विद्यार्थियों की दृष्टि इस ओर आकर्षित करवाना पर्याप्त होगा। इन सब ऋतु उत्सवों के लिए विशेष रूप से छुट्टी देकर वनभोज की व्यवस्था करनी चाहिए। और ऋतु के उपयुक्त वेशभूषा एवं खेलकूद आदि का आयोजन करना चाहिए। प्रकृति के साथ एक बार सम्पर्क स्थापित हो जाने पर, प्रकृति से वास्तव में प्रेम हो जाने पर, विद्यार्थी के मन में रस का स्त्रोत कभी सूखेगा नहीं, क्योंकि प्रकृति युग–युगान्तर से कलाकार के लिए कला का आधार उपस्थित करती रही है।

अन्तिम बात यह है कि साल में किसी एक समय विद्यालय में एक कला महोत्सव करना होगा। उसमें हर विद्यार्थी कोई न कोई चीज अपने हाथ से बनाकर श्रद्धा सहित लाकर रखेगा–भले ही वह कितनी भी सामान्य हो। विद्यार्थियों द्वारा बनाई गई वस्तुएं उत्सव के प्रति अर्ध्य स्वरूप होंगी, उन्हें उसी रूप में ग्रहण करना होगा। संगीत, नृत्य, जुलूस (शोभायात्रा) आदि के द्वारा उत्सव को सर्वांग सुन्दर बनाने की चेष्टा करनी होगी। उत्सव के लिए कोई निश्चित समय तय करना कठिन है, देश–भेद के अनुसार वह भिन्न–भिन्न होगा। बंगाल के लिए शरत् ऋतु ही सबसे उपयुक्त लगती है।

जहां तक हमें पता है, हमारे देश में एकमात्र रवीन्द्रनाथ ने शिक्षा के क्षेत्र में कला–साधना को उपयुक्त स्थान दिया था। विश्वविद्यालयों में प्रचलित वर्तमान शिक्षा पद्धति के फलस्वरूप उन्हें भी कदम–कदम पर बाध ााओं का सामना करना पड़ा था। विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में कला का प्रशिक्षण सम्मिलित न होने के कारण अभिभावकगण इसे सर्वथा अप्रयोजनीय मानते हैं। फलस्वरूप जिन बच्चों में बचपन में नाना कलाओं के प्रति अनुराग दिखाई पड़ता है, वे भी प्रवेशिका परीक्षा के साल दो साल पहले से कला की अप्रयोजनीयता के प्रति सजग हो उठते हैं और उनका कला प्रेम इस समय से कम होते–होते अंत में एकदम समाप्त हो जाता है। समय आ गया है, इस ओर हमारे सर्वविद्या एवं ज्ञान–चर्चा के केन्द्र विश्वविद्यालय विशेष ध्यान दें।

इस प्रसंग में एक बात और कहना चाहता हूं। बहुत–सी सामयिक पत्रिकाओं के संपादक अनेक समय किसी विशेष शैली का नाम देकर अकुशल हाथों द्वारा बनाए गए चित्र छापते रहते हैं। उनकी इस रुचिहीनता की और कोई निन्दा न करके केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि यदि उन्हें अच्छे आधुनिक चित्र न मिलें तो वे अच्छे पुराने चित्र छापें, पर मित्रता या आत्मीयता की खातिर लोगों को गलत रास्ते पर ले जाने का

अपराध न करें। जरूरत हो तो चित्र चुनने में सौन्दर्यबोध वाले समझदार व्यक्तियों से सहायता लें, क्योंकि आम शिक्षा की दृष्टि से सामयिक पत्र–पत्रिकाओं का महत्व कम नहीं है, अच्छा या बुरा दोनों ही तरह का प्रभाव वे डालती हैं।

सीधी सी बात है, कला के सम्बन्ध में शिक्षित समाज एवं विश्वविद्यालय की उदासीनता कम होने से ही कला चर्चा का प्रसार होगा और उसके फलस्वरूप देशवासियों का सौन्दर्यबोध तथा उनकी पर्यवेक्षण शक्ति बढ़ेगी, इसमें कोई संदेह नहीं।

(यह लेख पत्रिका अनौपचारिका के दिसम्बर 2008 अंक से लिया गया है।)

पठन सामग्री 3

कला शिक्षण के उद्देश्यों के बारे में

यह लेख प्रसिद्ध कला शिक्षक व शांति आंदोलन के कार्यकर्त्ता देवी प्रसाद की बहुत सुन्दर पुस्तक शिक्षा का वाहन : कला से लिया गया है। देवी प्रसाद रवीन्द्रनाथ टैगोर के शांतिनिकेतन में महान चित्रकार नन्दलाल बसु के शिष्य थे। बाद में सेवाग्राम में गांधी जी द्वारा स्थापित नई तालीम पाठशाला में कला शिक्षक के रूप में काम करते रहे हैं। यह पुस्तक इन्हीं अनुभवों के आध ाार पर लिखा गई है। इस लेख को कई बार पढ़ें और हर अंश का सारांश या मुख्य बातों को लिखने का प्रयास करें। फिर विचार करें कि आप उनसे कहां तक सहमत हैं और कहां असहमत हैं। घ्यान रहे कि छात्रों की सुविधा को ध्यान में रखकर इस लेख के कई अंश काटे गए हैं। जो लोग पूरे अंश को पढ़ना चाहते हैं, वे कृपया मूल पुस्तक से पढ़े। (संपादक)

कला-शिक्षा क्यों ?

अनुराग चाहिए, धैर्य भी चाहिए;
साधना की सफलता भी।
कला–चर्चा एक साधना
ही है, शौक नहीं।''

— नन्दलाल बसु

शिक्षा की योजना बहुत समझ–बूझकर बनानी पड़ती है। उसका आधार मुख्यतः दो बातों पर रहना चाहिए। मानव–समाज के जो आदर्श तैयार हुए हैं, शिक्षा का उद्वेश्य हो कि उसके द्वारा व्यक्ति उन आदर्शो की तरफ बढ़ता रहे। मानव संस्कृति का जो 'पैटर्न' तैयार करना चाहता है, शिक्षा उस पैटर्न का निर्माण करे। दूसरा आधार होगा, व्यक्ति और समाज का गुण–धर्म। यानी आदर्श चाहे कितना भी ऊंचा क्यों न हो, शिक्षा का तरीका इस गुण–धर्म को सामने रखते हुए ही बनेगा। व्यक्ति के गुण–धर्म को भूलकर अगर उसकी तालीम की योजना बनेगी, तो वह व्यावहारिक नहीं होगी। इसका कारण यह है कि जिसे ढालना है, उसे उसके गुण–धर्म के आधार पर ही ढाला जा सकता है। कोई मूर्ति बनानी होती है, तो पहले जिस माध्यम में बनानी है, उसके चरित्र को समझाना पड़ता है। लकड़ी की होगी, तो खुदाई द्वारा और कांसे की होगी, तो वह ढलाई द्वारा बनेगी। इसी प्रकार शिक्षा की योजना सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्श और मनुष्य–स्वभाव दोनों के मिलान से ही बननी चाहिए।

बालक के गुण–धर्म की, विशेषतः उसके कला–स्वभाव की चर्चा अगले अध्याय में करेंगे। यहां कला से

संबंध रखनेवाले सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्शों को समझने का प्रयत्न करें। आज एक आम रिवाज–सा हो गया है: शिक्षा का काम करनेवाले कहते हैं कि कला बालक के संम्पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। इसी तरह शिक्षाक्रम में और भी विषय जोड़े जाते हैं पर यह बात कि अमुक विषय के द्वारा अमुक कारण से विकास होता है, बहुत कम शिक्षक सोचते हैं। अगर सोचते भी हैं, तो कुछ ऊपरी बातों पर ही ध यान देते हैं। इतिहास में देखा गया है कि जबसे शिक्षा की योजना सोच–समझकर बनने लगी, तभी से ऋषियों और चितंको ने शिक्षा के विषयों को, उनके द्वारा होनेवाले विकास के बारे में अच्छी तरह सोचकर ही रखा। गणित सिखाने का अर्थ यह नहीं हैं कि उससे व्यावहारिक जीवन में लाभ हो, क्योंकि अधिकतर लोगों के व्यावहारिक जीवन में उच्च गणित के सिद्धांतों से कोई मतलब नहीं पड़नेवाला होता, फिर भी उसे अच्छे शिक्षण का आवश्यक अंग माना गया है। इसका कारण है कि गणित की शिक्षा से एक विशेष मानसिक

विकास होता है, जो किसी अन्य विषय के सिखाने से नहीं होता। किंतु अगर गणित सिखाने पर भी विकास

होता है, जो किसी अन्य विषय के सिखाने से नहीं होता। किंतु अगर गणित सिखाने पर भी उसका यह लाभ न हो, तो उसे शिक्षा में स्थान देने का कोई अर्थ नहीं होता। इसलिये शिक्षक को अपने विषय के व्यावहारिक और चारित्रिक दोनों पहलुओं के बारे में खूब गहराई से चिंतन कर लेना चाहिए।

इसी तरह कला सिखाने का मतलब केवल हाथ के काम में दक्षता हासिल करना नहीं होता; कुछ चित्र और दस्तकारी की खूबसूरत चीजों का निर्माण मात्र उसका ध्येय नहीं होता। कला–शिक्षा के पीछे व्यक्ति के चरित्र, उसके सामाजिक बोध और सौंदर्य–बोध का विकास करने का उद्देश्य होता है। कला–शिक्षा में हाथ का काम (कला–कौशल) तो साधनमात्र है, साध्य तो गुण–विकास है। इसी विचार को सामने रखते हुए हम कला का जीवन में क्या महत्व है, इसकी विस्तार से चर्चा करेंगे।

भौतिक जीवन का सौंदर्य

सबसे पहली और स्थूल बात तो सभी कहते हैं : 'कला के द्वारा हमारे जीवन में सौंदर्य–निर्मार्ण होता है', यानी रोजाना के जीवन में इस्तेमाल होनेवाली चीजें सुंदर बनें, यह कला का एक ध्येय है। जब लोग किसी पुरानी संस्कृति के बारे में कुछ कहते हैं, तो पुरातत्व–विभाग द्वारा खोज निकाली गई वस्तुओं के आधार पर ही कहते हैं कि अमुक संस्कृति या सभ्यता उच्च कोटि की थी या नहीं। सिंधु–सभ्यता एक परिपक्व सभ्यता थी, यह मोहनजोदड़ो में मिली वस्तुओं की बुनियाद पर ही कहा जाता है ।

आज भी बड़ी–बड़ी फैक्टरियों में जो वस्तुएं बनें, वे सुदंर बनें, इस विचार से कलाकारों की मदद ली जाती है। इसके पीछे प्रयत्न यही होता है कि हम जो कुछ भी बनाये या इस्तेमाल करें, वह सुंदर हो। यह काम कला का है। इसलिये जहां–तहां वस्तुएं बनती हैं, चाहे फिर वे बड़ी फैक्टरियों में बनें या कारीगरों की कर्मशालाओं में, वहां कलाकारों को नियुक्त कर दिया जाता है। इन कलाकारों का काम होता है–कारीगरों को आकार, रंग आदि के बारे में मार्गदर्शन देना। अगर जीवन में सौंदर्य का इतना महत्वपूर्ण स्थान है, तो कला–शिक्षा का आम शिक्षा का एक अंग हो जाना लाजिमी हो जाता है।

किंतु आज हालत क्या है? क्या जो चीजें हमारे घरों में, बाजार में, दफ्तर में या कहीं भी हम इस्तेमाल करते हैं, वे सुंदर होती है ? दुख के साथ कहना पड़ता है कि जिस देश की परंपरा अत्यंत ऊंचे स्तर की कलात्मकता की थी, आज वहां बिलकुल नीचे दर्जे की रुचि की वस्तुओं से जीवन घिरा है। शरीर पर पहनने के कपड़ों को ही लें। वस्त्र–कला की कहानी अगर लिखी जाए, तो जहां पट्टन के पटोले, संबलपुरी, चंदेरी, पैठनी, बालूचरी आदि का जिक्र किया जाएगा, वहां आज स्त्रियां वायल, जार्जेट आदि की हलकी रुचि की साड़ियां पहनने में गर्व महसूस करती हैं। जिस देश में कांसे के अत्यंत कलात्मक बर्तन बनते थे और आज भी बनते हैं, वहां एल्यूमिनियम आदि के बर्तन फैशनेबल माने जाते हैं और बेचारे कांसे के बर्तन बनानेवाले कारीगर आधा पेट भूखे रहकर दिन गुजारते हैं। छोटी–से–छोटी चीजों को ही लें जैसेः बच्चों के खिलौने। शायद ही दूसरा कोई ऐसा देश होगा, जहां खिलौनों की परंपरा इतनी समृद्ध और कलात्मक हो। पर हालत यह है कि साप्ताहिक बाजारों में प्लास्टिक के खिलौनों की भरमार रहती है। अगर देशी खिलौने बेचने के लिए कोई कारीगर भूला–भटका वहां आ भी जाए, तो उसे उन्हें पीठ पर लादकर वापस घर ले जाना पड़ता है।

हमारे समाज की रुचि इस तरह की हो गई है। सुंदर और बदसूरत वस्तु को परखने की शक्ति बिलकुल दिखती ही नहीं। ऐसे लोग भी हैं, जिन्होंने खूब धन खर्च करके घर में प्राचीन कला–कृतियों का अच्छा खासा संग्रह कर लिया है। इसलिए उन्हें समाज में आजकल अधिक सभ्य भी माना जाता है और 'कला के जानकार माना जाता है। किंतु यह आवश्यक नहीं कि उनके जीवन में इस्तेमाल होनेवाली चीजें सचमुच खूबसूरत हों। जीवन में लावण्य और लालित्य की बात तो छोड़ ही दें।

इसका क्या कारण है? यह चर्चा करने के पहले इसके बारे में शिल्प–गुरु नन्दलाल बसु क्या लिखते हैं वह देखेंः ''लोग कला–चर्चा पर विलासी और धनी व्यक्तियों का एकमात्र अधिकार मानकर उसे दैनंदिन जीवन–यात्रा से अवज्ञा के साथ निर्वासित रखना चाहते हैं। वे भूल जाते हैं कि सुषमा ही शिल्प का प्राण है,

अर्थमूल्य से शिल्पवस्तु का विचार नहीं हो सकता। गरीब संथाल अपने मिट्टी के घर को लीपकर मिट्टी के बर्तनों और फटी गुदड़ियों को संभालकर रखता है और कॉलेज में पढ़े कितने ही शिक्षित लड़के प्रासादोपम होस्टलों या मेसों के कमरों में कीमती कपड़ों तथा सामानों को इधर–उधर बिखेरकर अशोभन बनाए रखते हैं। यहां दरिद्र संथाल का सौंदर्य–बोध उसकी जीवन यात्रा का अंगभूत और सजीव है, धनी संतान का सौंदर्य बोध दिखावटी और निर्जीव है। शिल्प–उपासना के नाम पर कैलेंडर की मेम साहिबा का चित्र फ्रेम में मढ़वाकर शिक्षित व्यक्ति के घर में सचमुच अच्छे चित्र की बगल में लटकाया गया है, यह भी देखता हूँ। विद्यार्थियों मे देखता हूं कि चित्र के फ्रेम पर कुरता टंगा है, पढ़ने की मेज पर चाय का प्याला, आईना, कंघी और कोक के टिन में कागज के फूल सजाए हुए हैं। वेश–विन्यास में धोती पर खुले गले का कोट, साड़ी के साथ मेम साहिबी खुरवाला जूता–इस तरह सर्वत्र सुषमा का अभाव है। हमारे पास धन हो या न हो, यह सौंदर्य–बोध का दैन्य सूचित करता है।''

इस दैन्य का क्या कारण है ? यही कि कला का जीवन के साथ जो समन्वय होना चाहिये था, वह टूट गया है। इस समन्वय के टूटने का मुख्य कारण यंत्र–युग के अंदर ही है। इसमें यंत्र–युग को दोष देने की बात नहीं, परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से यंत्र–युग को ही कला और जीवन के इस विच्छेद की जिम्मेवारी का साझीदार होना होगा। यंत्र–युग में वस्तुओं के निर्माण करने के साधन एकदम बदल गए। हर व्यक्तिगत वस्तु कारीगर के अपने हाथ से न बनाकर मशीन द्वारा हजारों, लाखों की संख्या में बनने लगी। मनुष्य का हाथ तक उनमें लगने की जरूरत नहीं रही एक ही नाप, परिमाप आदि की एक ही जैसी एक से अधिक संख्या में वस्तुएं बनाना उसका ध्येय होता है। पर जब कारीगर प्रत्येक वस्तु को अपने हाथ से बनाता है, तो प्रत्येक वस्तु में उसके उस क्षण के व्यक्तित्व का प्रकाश होता है। यहां तक कि कुम्हार के चाक पर बनाए बर्तन, जो उनमें से हर एक कुछ–न–कुछ अलग होगा।

यंत्र–युग तो आया, पर हमारे सौंदर्य–बोध के मापदंड वे ही हस्त–उद्योगवाले रहे। उन्हें साधन के हिसाब से बदलने में स्वाभाविक ही समय लगेगा। यंत्र, युग के इतने अनुभव के बाद आज ये मापदंड भी बदल रहे है। यंत्र ने तो वस्तु की उपयोगिता की दृष्टि से उसका निमार्ण किया, पर हस्तकला के मापदंड के अनुसार उसे उसी ढ़ग से सुंदर बनाने की कोशिश की गई। यानी उपयोगिता और सुंदरता का विच्छेद, जो यंत्र–युग से पहले ही जमींदारी और 'फ्यूडल' जमाने में शुरू हो चुका था, यंत्र–युग में आकर बिलकुल ही स्पष्ट हो गया। यह सब यूरोप में घटा।

कला में एक नया वर्गीकरण शुरू हुआ। कला की उस प्रवृत्ति को, जिसके द्वारा'उपयोगी' (इस्तेमाल की चीजें) वस्तुएं नहीं बनतीं, 'फाइन आर्ट' (ललित–कला) कहा जाने लगा। इसमें चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, कविता और वास्तुकलाएं आती हैं। वह कला, जिसके द्वारा उपयोगी वस्तुओं का निर्माण होता है, उसे 'अप्लाइड आर्ट' (उपयोगी कला) नाम मिला। हिन्दुस्तान में आरंभ से ही कला के कोई अलग विभाग नहीं थे। प्राचीन शास्त्रों में कलाओ की कई सूचियां मिलती हैं। बौद्ध–ग्रंथों में 84 कलाएं बताई हैं, जैन–ग्रंथों में 72 और वात्स्यायन के ग्रंथ में 64 इससे यह स्पष्ट है कि कलाओं की कोई निश्चित संख्या नहीं हो सकती। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात देखने की यह है कि इन सूचियों में संगीत, नृत्य, श्रृगांर, बढ़ई–काम, सिलाई आदि सभी कलाएं एक ही सूची में एक ही स्तर पर दी गई है। पर मध्यकाल में कला के जो दो वर्ग यूरोप में बने गये, उनके कारण सच्ची कला और जीवन में विच्छेद पड़ गया।

यूरोप में भी मध्ययुग से पहले कला का उद्देश्य हमेशा किसी–न–किसी उपयोगिता के साथ जुड़ा हुआ रहा, चाहे वह उपयोगिता आध्यात्मिक, धार्मिक हो या व्यावहारिक। परंतु 16वीं शताब्दी से कला का एक ध्येय अमीरों का मनोरंजन आदि भी हो गया। जो कलाकार शक्तिशाली होते थे, उनका झुकाव इस कला की तरफ, जिसे 'शुद्ध कला' भी कहा गया, हो गया। जो शक्ति अभी तक हर तरह के निमार्णात्मक कामों में लगती थी– चाहे वह चित्र बनाने का काम हो, चाहे इस्तेमाल की चीजें–वह अब केवल ललित–कलाओं में लगने लगी। कारीगरों में से जो सृजनात्मक शक्ति रखते थे, वे भी धीरे–धीरे ललित–कला की ओर जाने लगे और इस तरह इस्तेमाल की चीजों का कलात्मक स्तर धीरे–धीरे नीचा हो गया। 'फाइन आर्ट' के विपरीत दूसरा शब्द बनाः 'अप्लाइड आर्ट'। हिंदी में इसका अनुवाद 'उपयोगी कला' किया गया, जो शब्द का ठीक

अनुवाद नहीं है। 'अप्लाइड आर्ट' शब्द का अनुवाद करना कुछ कठिन है। जब कि कोई वस्तु सृजनात्मकता के पैमाने से नीची बनेगी और उसे 'कलात्मक' बनाना जरूरी होगा, तो उस पर कला को ऊपर से चिपकाना पड़ेगा। यानी 'अप्लाइड आर्ट', 'आर्ट अप्लाइड' हो जायेगा। वही आज होता है। बाजार में वे ही चीजें सुंदर मानी जाती हैं, तो उस पर कला को ऊपर से खूब अंलकृत हो; जिनमें सच्ची कलात्मकता के बदले दस्तकारी की कुशलता अधिक दिखे। वह चीज, जिसका केवल आकार या अलंकार–रहित रूप सुंदर न हो, जो 'कला की कृति' न हो, लेकिन अलंकार से भरी हो, सुंदर मानी जाने लगी। इसका नतीजा दोहरे मायने में नुकसानदेह हुआ। एक तो यह कि जीवन में इस्तेमाल आनेवाली वस्तुएं ठीक अर्थ में सुंदर नहीं रहीं। उससे भी अधिक गहरा हाानिकारक असर यह हुआ कि समाज को सच्चे कलाकारों की सेवा से वंचित रहना पड़ा। ये कलाकार केवल धनी वर्ग के मनोरंजन के काम में लग गए।

भारतवर्ष में परिस्थिति अलग थी। क्योकि यहां यंत्र–युग का असर बाद में आया और यूरोप की हलकी नकल करते हुए आया, इसलिए पुरानी परंपराएं बिल्कुल टूटने लगीं। आज तो वे परंपराएं लगभग पूरी–पूरी टूट गयी हैं। जो कुछ बचा है, वह दो कारणों से बचा है। एक तो इसलिए कि हमारा देश गांवों का देश है। साथ ही देश गरीब है, इसलिए यंत्र–युग को अंतर तक प्रवेश करने में समय लगना स्वाभाविक ही है। दूसरा कारण यह है कि पुरानी परंपराएं इतनी ठोस थीं कि उन्हें आसानी से फेंका नहीं जा सकता। इस देश की संस्कृति की बुनियाद इतनी गहरी रही है कि आज के जमाने में भी ऐसी बातें हैं, जो आधुनिकतम शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति भी कहीं–कहीं बनाए रखने में गर्व महसूस करता है। पुरानी दस्तकारी की कितनी ही वस्तुएं ऐसी हैं, जिनका मुकाबला करने में आधुनिकतम 'डिजाइनर्स' भी झिझकेंगे। परंतु यह सांस्कृतिक कलात्मक अवशेष अब कुछ खसता हालत में है। चालू शिक्षा–प्रणाली बड़ी सफलता पूर्वक उन्हें काफी रफ्तार से मिटा देने की गति में है। जितनी गति से 'शिक्षा का प्रसार' होगा (और जो हो रहा है), उतनी गति से ही हमारे जीवन का परंपरागत सौंदर्य खतम होता जाएगा– इस्तेमाल की वस्तुएं बदसूरत होती जायेगी। बचा–खुचा जो संग्रहालयों में स्थान पा रहा है, वह भी देखने को नहीं मिलेगा।

जो चीजें आदमी बनाए, वे खूबसूरत हों, इसके लिए सबसे पहली आवश्यकता है कि समाज के हर व्यक्ति को सुंदर वस्तु चुनने की विवेक–बुद्धि हो। पुराने जमाने में यह बात आसान थी, क्योंकि परपंरा के कारण व्यक्ति चुनना जानता था और समाज की शिक्षण, पद्धति में भी यह शिक्षा आ जाती थी। साथ ही एक कारण यह भी था कि जो वस्तुएं उपलब्ध थीं, उनमें से अधिकतर स्थानिक होती थीं। हर व्यक्ति हर कारीगर को अच्छी तरह जानता था। कला, कलाकार और ग्राहक की आत्मीयता के कारण कला, बोध की शिक्षा स्वाभाविक ही मिलती रहती थी। परंतु आज कला, बोध में यह विप्लव (केओस) घट चुका है और हर व्यक्ति के सामने सारे संसार की चीजें उपस्थित होती हैं, इस स्थिति में ठीक चुनाव करने की शक्ति का निर्माण असंभव ही है। यह तभी संभव होगा, जबकि शिक्षा में सुंदर और असुंदर को पहचानने की तालीम देने की योजना बनेगी।

कला–बोध कैसे निर्माण होगा, इसकी चर्चा आगे चलकर विस्तार से की गई है। यहां वस्तुओं के निर्माण से जो पहलू संबंध रखता है, उसे समझने का प्रयत्न करेंगे। कोई भी कारीगर जब कुछ बनाना चाहता है, तब या तो वह पुरानी चली आई भांत से इस वस्तु को बनाये या अगर कुछ नया बनाना है, तो उसे नई भांत का निमार्ण करना होगा। आज प्रश्न नई भांत के निर्माण करने का है। दरअसल हर कारीगर या कलाकार बिलकुल नए आकारों का निर्माण नहीं कर सकता। बिलकुल मौलिक दृष्टि से नवीन भांत के निर्माण करनेवाले कलाकार हर युग में इने–गिने ही होते हैं। पर मनुष्य की 'नवीनता' की भूख की तृप्ति करनेवाली नई–नई भांत बनाने की शक्ति अच्छी ट्रेनिंग से हासिल की जा सकती है इसका एक तरीका यह है कि दूसरे प्रांतों और देशों की अच्छी–अच्छी वस्तुओं की बुनियाद पर नयी भांतें बनायी जाए। इससे सौंदर्य–बोध भी बनेगा और 'नवीनता' का पहलू भी सधेगा।

इस सिलसिले में यह बात कह देना आवश्यक है कि हमारी पांरपरिक वस्तुओं की बार–बार वकालत करने से गलतफहमी नहीं होनी चाहिए। हम इस बात को बिलकुल ही नहीं मानते कि आज भी पुराने आकारों और भांतों को ही खींच–तानकर जीवित रखें और नई–नई डिजाइन न बनाए। इसमें कोई शंका नहीं कि जैसे–जैसे समय बदलता है, वैसे–वैसे कला के आकार, पैटर्न आदि भी बदलते हैं। परंतु यह एक साधारण–सी बात है कि चूंकि एक सचमुच सुदंर वस्तु, जो उपयोगी भी है पर पुरानी है, इसलिये उसे अपनाना

नहीं चाहिये, यह मानना मूर्खता हैं। कला–बोध का अभाव ही मनुष्य को ऐसी भावना देता है। अगर सचमुच नयी भांतों का आविष्कार करना है, तो कलाकार को परंपरागत कला और प्रकृति दोनों का गहरा अध्ययन करना पड़ेगा। आज तक जितनी भी मूल कृतियां कला में हुई हैं, वे इसी गहरे अध्ययन के नतीजे हैं। इसलिये समाज में व्यक्तियों की सृजनात्मक शक्ति का विकास करने के लिए दोनों चीजें उपलब्ध होनी चाहिए परंपरागत कला और प्रकृति।

कलाकार खोज करने की पद्धति परपंरा के द्वारा सीखता है और खोज की वस्तु (कलात्मक आकार) प्रकृति में से पाता है। प्रकृति में जो कुछ कला का व्याकरण और उसका गणित छिपा पड़ा है, उसे खोजना कलाकार का काम होता है। यह काम जन्मजात कलाकार ही कर सकते हैं। पर चूंकि हम कलाकार और दस्तकार 'फाइन आर्ट' और 'अप्लाइड आर्ट' (ललित–कला और उपयोगी कला) में अंतर रखना नहीं चाहते, हर दस्तकार, चाहे वह ऊंची श्रेणी का जन्मजात कलाकार न हो, उसके सृजन करने का रास्ता कलाकार का ही होगा।

ऐसा वातावरण बनाने के लिए केवल शिक्षा ही जिम्मेवारी ले सकती है। यह शिक्षा हर व्यक्ति को मिले, कलाकार, दस्तकार के सृजन करने के रास्तों से हर व्यक्ति परिचित हो, प्रत्यक्ष रूप से परिचित हो, यह काम शिक्षा को करना चाहिए। कला का यह उद्देश्य कि जीवन में इस्तेमाल आनेवाली वस्तुएं सुंदर हों, शिक्षा के द्वारा ही सध सकता है।

प्रकृति-परिचय : बंधुत्व

सच्ची कला–शिक्षा द्वारा, जैसा कि ऊपर कहा गया, सौंदर्य–निर्माण तो होगा ही, पर उसका ध्येय केवल भौतिक जीवन तक ही सीमित नहीं है। मनुष्य के हृदय की गहरी सतह तक कला का प्रवेश है।

कला–साधना के लिए प्रकृति को समझाना पड़ता है, उसका पूरा–पूरा अध्ययन करना पड़ता है। कलाकार का यह अध्ययन ऊपरी नहीं होता। वह उसे प्रकृति की गहराई में उतारनेवाला होता है। कलाकार इस अध्ययन के द्वारा प्रकृति में इतना एकात्मबोध अनुभव करता है कि धीरे–धीरे सब–के–सब उसके मित्र बन जाते हैं। नन्दबाबू ने एक बार एक विद्यार्थी को, जो एक वृक्ष की स्टडी (वृक्ष का चित्र) कर रहा था, कहा थाः ''तुम आज जो इस वृक्ष की आराधना कर रहे हो, चित्र बना रहे हो, अगर सचमुच ही यह अच्छा लग जाता है, तो यह तुम्हारे सारे जीवन के लिए संचित होता जा रहा है। जीवन में कभी शायद अशेष दुख पाओगे, प्रियजनों को खोना पड़ेगा, संसार शून्य लगेगा, तब रास्ते के किनारे से यह वृक्ष कहेगा, 'यहां मैं हूँ।' तुम्हें सांत्वना मिलेगी। यह तुम्हारा अक्षय संचय है।....'' दूसरे समय एक बार कहा : ''असल बात यह है कि जिस चीज का चित्र बनाओगे, वह अच्छी लगनी चाहिए। उसे तुम्हारा मन हर लेना चाहिए। तब वह अच्छा लगना तूलिका की नोक पर अपने–आप निखर उठेगा। तभी यथार्थ में चित्र बनेगा। चित्र बनाने का यही सबसे बड़ा, सबसे गूढ़ कौशल है।''

कला–शिक्षा का यह भी उद्देश्य है कि व्यक्ति को प्रकृति के साथ इस बंधुत्व का अनुभव हो। आज विशेष तौर पर इस शिक्षा की अत्यंत आवश्यकता है। आदमी का हृदय इतना संकुचित हो गया है कि पेड़–पौधों आदि की बात तो छोड़ दें, उसे अपने पड़ोसी मानव के लिए भी सच्ची संवेदना नहीं रह गई है। इस स्वार्थमय युग में शिक्षा का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि चाहे उससे व्यक्ति कुछ और चीज सीखे या न सीखे, उसे साथियों, सहजीवियों के साथ गहरी संवेदना की अनुभूति तो अवश्य ही हो। हृदय में संवेदना का निर्माण करने के लिए ऐसे विषय और प्रवृत्तियां चुननी होंगी, जिनसे मनुष्य की सूक्ष्मतम संवेदना जाग्रत हो।

कला–शिक्षा इस काम को करती है। कलाकार का मन इतना मुलायम हो जाता है कि अगर उसके सामने कोई पेड़ काटे या किसी अनुचित कारण से फूल तोड़े, तो उसे दुख होता है। दुख इसलिए होता है कि वह उस फूल की सुंदरता को पहचानता है और यह फूल की सुंदरता उसकी परिचित होती है। उसे अपनी परिचित वस्तु की क्षति होते देखना सहन नहीं होता। वह जब स्वयं भी फूल तोड़ता है, तो हमेशा किसी–न–किसी ऊंचे उद्देश्य के लिए ही तोड़ता है। उसका उद्देश्य या तो सौंदर्य का निमार्ण करना या किसी

प्रियजन या पूज्यपात्र को अर्पण करने का होता है। अर्पण प्रिय वस्तु का ही होता है, फूल भी उसकी प्रिय वस्तुओं में से होता है।

इस प्रकार कलाकार की दृष्टि को, जो किसी–न–किसी परिमाण में कला–शिक्षा द्वारा हर व्यक्ति में निर्मित होगी, नन्दबाबू ने इन शब्दों में कहा हैः ''जो कलाकार है, सर्वत्र सभी उसके मित्र हैं। वह कभी निसंग नहीं होता। तुम अच्छे लग रहे हो। तुम चले गए, पेड़ अच्छा लग रहा है। पेड़ भी नहीं है, तो यह दरवाजा ही अच्छा लग रहा है। अच्छा क्यों लगता है, कहना कठिन है। पर आवेग–प्रवण अच्छा लगने या अपनी चीज होने के कारण अच्छा लगने में गहराई कम होती है। कुतूहल के कारण अच्छा लगना चिरस्थायी नहीं होता। एक प्रकार का अच्छा लगना और है, वह है–गहरी एकात्मानुभूति। सभी गहरा आश्वासन दे रहे हैं, सभी मित्र जो हैं।''

कला के द्वारा प्रकृति–परिचय का बंधुत्व के अलावा एक दूसरा पहलू भी है। वह प्रकृति के बाहरी आकार से संबंध रखता है। इसके भी दो प्रकार हैंः एक तो वह, जो हमारे आसपास की चीजों की विद्यमानता (एक्जिसटेंस) के बारे में हमें सचेतता (अवेअरनेस) देता है और दूसरा वह, जो हमारी आंख से संबंध रखता है। यानी जिसमें चाक्षुष–शक्ति का प्रश्न आता है।

संचेतना

आंख किसी वस्तु को देखे या न देखे, पर मैं उस वस्तु की विद्यमानता के बारे में सचेत हूं, मुझे उसकी विद्यमानता का भान है, यह वृत्ति हर व्यक्ति में होनी चाहिए। हमारे चारों तरफ क्या है, किस तरह का है, किस आकार का है, यह सब जानने से इसका मतलब नहीं। बल्कि मतलब 'कुछ है' इस बात को महसूस करने से है। वस्तु के स्मृति–प्रतिबिंब से भी इसका इतना सरोकार नहीं, क्योंकि वह भान अंधे को भी होना चाहिए। आंख न होने पर भी यह सचेतता व्यक्ति में होती है, इसका अपने अनुभव के आधार पर एक उदाहरण देता हूं। मेरे एक मित्र थे, जो जन्म से ही आंख से लाचार थे। कभी–कभी मैं उनके साथ शाम को घूमने जाया करता था। एक बात हमेशा देखता कि सड़क पर चलते–चलते जब कोई मकान या पेड़ आता था, तो फौरन वे स्वंय कहतेः ''भाई, यहां कुछ है न?'' या मुझसे पूछते थेः ''यहां क्या है?'' उन्हें वस्तुओं की विद्यमानता की अनुभूति होती थी। हम इसी सचेतता का विकास करना चाहते हैं।

इस मुद्दे को और स्पष्ट करने के लिए इसका एकदम उल्टा उदाहरण देता हूं। प्रशिक्षण–टोली की एक कक्षा में एक दिन हरसिंगार के फूलों की बात उठी। शरद ऋतु थी। एक व्यक्ति उठे और बोले कि वह हरसिंगार के फूल और पेड़ को भलीभांति पहचानते है, क्योंकि उनके प्रदेश में वह पेड़ प्रचुर मात्रा में होता है। पूछने पर उन्होंने कहाः ''दिखता है, यहां तो यह पेड़ नहीं होता।'' वह इस बात पर अड़ गए कि तालीमी–संघ के अहाते में तो हरसिंगार का एक भी पेड़ नहीं है, फूल की तो बात ही क्या। मैंने उनसे पूछाः ''क्या आजकल आप रोज सुबह छात्रालय से आते–जाते समय रास्ते पर बिछी हरसिंगार की एक इंच मोटी सतह पर से चलकर नहीं आते?'' उनका वह विश्वास फिर भी कायम रहा। अगले दिन सुबह मैं स्वयं उनके पास गया और आते समय रास्ते पर बिछी प्रकृति की इस सुंदर छवि के सामने उन्हें खड़ा करके कहाः ''क्या है यह फूल ?''

''ओहो ! कितना अंधा हूँ मैं।'' वे सचमुच हरसिंगार के फूल और पेड़ को अच्छी तरह पहचानते थे। अगर उनके हाथ में एक फूल दे दिया जाता, तो फौरन पहचान लेते। फिर भी उन्हें उस चीज के बारे में सचेतता (अवेअरनेस) नहीं थी।

दो बिल्कुल उल्टे उदाहरण दिए। एक में तो आंख से न देखते हुए भी किसी वस्तु के अस्तित्व, उसकी विद्यमानता के बारे में व्यक्ति को पूरा–पूरा भान है, सचेतता है। दूसरी में वस्तु के बारे में ज्ञान है, मानस में उसका स्पष्ट प्रतिबिंब भी बना पड़ा है, फिर भी वह सचेतता नहीं है। इस सचेतता का संबंध प्रकृति के साथ एकात्मानुभूति से है। मेरे से बाहर किसी दूसरे वस्तु के अस्तित्व का भान होना यानी बाहर के प्रति संवेदना होना, यह अंहकार के निराकरण का पथ है। सुशिक्षित व्यक्ति का यह एक लक्षण है।

आंख की शिक्षा

दूसरी शक्ति, जो कला–शिक्षा के द्वारा विकसित होती है, वह आंख की शक्ति है। जिंदगी के लिए आंख का होना लाजिमी है। हर कोई जानता है कि अगर आंख न हो, तो जीना कितना कठिन हो जाता है। आंख की शक्ति जितनी तेज होगी, व्यावहारिक जीवन में उससे उतनी ही मदद मिलेगी।

आंख की शक्ति एक तो मनुष्य के दैहिक स्वास्थ्य का सवाल है, वह शरीर–शास्त्र और आरोग्य–शास्त्र का विषय है। कभी–कभी कुछ कमियां जन्मजात या रोग के कारण होती हैं। जैसे वर्णांधता (कलर–ब्लाइंडनेस), जिसमें रंगों को समझने में गलतियां होती हैं और कोई–कोई रंग दिखते भी नहीं। कभी–कभी तो ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जिन्हें सब कुछ काला–सफेद दिखता है, रंगीन नहीं या किसी–किसी को बीमारी के कारण चीजें धुंधली या टेढ़ी दीखती हैं। यह भी हो सकता है कि एक आंख अंधी हो, जिससे स्थान की गहराई का भान ही न रहे।*

आंख और मानस का समन्वय शिक्षा का विषय है। केवल बुद्धि के विकास से यह समन्वय नहीं सध सकता। इसके लिए आंख और बुद्धि दोनों को किसी प्रवृत्ति में साथ–साथ लगना होगा। आज खासतौर पर इस बात की हमारे देश में हद से ज्यादा कमी हैं। बीसियों साल से केवल बौद्धिक प्रवृत्तियां ही शिक्षा का माध्यम रहीं, आंख की ट्रेनिंग के लिए कुछ भी नहीं किया गया। इसलिये हममें आंख और मानस के समन्वय का भयानक अभाव हैं। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि वैज्ञानिक चिंतन के लिए भी इस समन्वय की बड़ी आवश्यकता है। क्या यही कारण है कि आमतौर पर आज अधिकतर लोगों का चिंतन भी अवैज्ञानिक ही रह जाता है? जो भी हो, हमने जो निरीक्षण सयानों के वर्ग में किए हैं, उन्हें यहां पेश करते हैं। प्रशिक्षण–वर्गों की बात है। इस बात को समझाने के लिए अक्सर सारी कक्षा के सामने एक किताब जमीन पर रख देता हूं और विद्यार्थियों से कहता हूं कि जैसा उन्हें दिख रहा है, इस पुस्तक का वैसा चित्र बनाएं। इनमें से 90 प्रतिशत लोग अपनी नोटबुक में एक आयताकार बना देते हैं और बाकी कोशिश करते हैं, जैसा दिखता है वैसा बनाने की। एक–आध ही उनमें से ऐसा व्यक्ति होगा, जिसका स्केच रखी हुई किताब जैसा दिखता हो।

हर वस्तु के दो आकार होते हैं। एक तो उसका वह आकार, जो वास्तव में होता है और जो बदलता नहीं। यह उसका मूल आकार है। दूसरा आकार वह होता है, जो आंख को दिखता है। यह हमेशा बदलता रहता है और वस्तु को जिस कोण से, जिस आलोक–छाया की स्थिति में देखा जाता है, उस पर निर्भर करता है। सममतल स्थान पर रखी हुई पुस्तक एक बाजू से देखने पर आयताकार नहीं दिखेगी। उसका आकार कुछ–कुछ 'पेरेलेलोग्राम' जैसा दिखेगा। हर वस्तु के बारे में यही बात लागू होती है।

जिन विद्यार्थियों ने पुस्तक का चित्र एक आयत बनाकर दिखाया था, उन्होंने उसे जैसा वे जानते हैं, वैसा बनाया था, यानी पुस्तक का मूल आकार। जो जानकारी पुस्तक के आकार के बारे में उन्हें थी, वही उन्होंने बनाया। स्थिति–विशेष में वह पुस्तक कैसी दिखती है, यह ट्रेनिंग उनको नहीं थी। दरअसल अधिकतर लोग इस तरह देखना ही नहीं जानते।

किसी वस्तु को पांच मिनट के लिए सामने रख दीजिये। फिर हटाकर उनसे कहिये कि याद से इसका चित्र जैसा दीखता था, वैसा बनाइये। ऐसी हालत में तो और भी मुश्किल हो जायेगी। कुछ इने–गिने लोग

---

* *क्या आंख एक ही रहने से काम चल जाता ? नहीं। क्योंकि अगर एक ही आंख हो, तो एक वस्तु आगे है और एक पीछे–यह बिना स्पर्श के समझ में नहीं आएगा । एक वस्तु की मोटाई का भान भी उससे न होगा। किसी वस्तु को एक आंख बंद कर देखें और फिर इसी तरह दूसरी आंख से देखें, तो पता चलेगा कि दोनों आंखें अलग–अलग केवल लंबाई और चौड़ाई को ही देखती हैं लेकिन दोनों के देखने का तल प्लेन अलग–अलग होता है। दोनों के मिलन द्वारा उसमें गहराई का हिस्सा भी आ जाता है, जिसके कारण तृतीय विमा थर्ड डायमेंशन भी आ जाती है।*

जब कि एक आंख किसी कारण कुछ उम्र होने के बाद चली जाती है, तो आंख गहराई को देख नहीं सकती। किंतु पुराने अभ्यास और मानसिक तर्कक्रिया के कारण उस कमी की पूर्ति हो जाती है।

ही ऐसे होंगे, जो इस प्रकार चित्र बना सकेगे। जिन्होंने अपने स्कूल—युग में रुचि के साथ ड्राइंग की होगी, उनमें से कुछ शायद सफलतापूर्वक ठीक निरीक्षण करके चित्र बना सकें।

यह तो केवल आकार की बात हुई। रंग आदि के बारे में भी यही बात है। एक ही रंग के दो शेड में फर्क समझना, किसी प्राकृतिक वस्तु के रंग का ठीक नाम बताना, यह सब कम ही लोग कर सकेंगे। हमारा एक गुलाब का बगीचा है। उसमें लगभग पैंतालीस प्रकार के गुलाब हैं। जाड़े में जब फूल का मौसम होता है, तो आश्रम में आनेवाले अनेक दर्शक ये फूल देखने भी आते हैं। उनमें से कइयों से इसके बारे में बातचीत भी होती है। यह बातचीत अक्सर इस प्रकार की होती हैः ''कितने प्रकार के गुलाब हैं आपके बगीचे में ?'' ''पैंतालीस प्रकार के।'' ''पैंतालीस ? लेकिन दिखते तो पांच या छह प्रकार के ही हैं। लाल, गुलाबी, सफेद, पीला ....'' लाल में पांच—सात प्रकार के शेड है, यह सब उन्हें दिखता ही नहीं। यहां तक कि उनमें से बहुत से लोगों को यह बात दिखा देने पर भी समझ में नहीं आती। इसके लिए भी आंख को ट्रेनिंग देनी पड़ती है।

आलोक और छाया की क्रीड़ा प्रकृति को हर क्षण कितना बदलती रहती है, उसमें रूप का कितना भंडार पड़ा है, उससे आज हम वंचित रह जाते हैं। कला—शिक्षा के द्वारा प्रकृति की इस संपदा का द्वार खुल जाता है। गुरूदेव रवीन्द्रनाथ ने कहा है :''....यह है आर्ट। दृष्टि का भंडार पूर्ण कर देता है। जो देखा नहीं, उसे जब देखते हैं, अवाक रह जाते हैं। इसलिए तो है प्रत्यक्ष देखने में इतना आनंद! यही देखना है छवि (चित्र) का देखना।''

देखना तभी संपूर्ण होता है, जबकि वह दोनों तरह से हो— आंख से देखना और मन से देखना। इस बात को आचार्य अवनीन्द्रनाथ ने बड़ी सुंदर भाषा में व्यक्त किया है : ''मनुष्य के मन में जो देखता हूं, वह मानवीय भाव है और आंख से देखता हूं, प्रकृति का भाव। इन दोनों को मिला करके ही सृष्टि की परिपूर्णता है। दोनों ही होने चाहिए। मन का देखना भी चाहिए और आंख का देखना भी।''

लावण्य-निर्माण

लावण्य—निर्माण शिक्षा और खासतौर पर कला—शिक्षा का एक मुख्य ध्येय है। इस बात पर संसार के सभी शिक्षा—शास्त्री जोर देते आए हैं और दे रहे हैं। अनेक प्राचीन संस्कृतियों के अध्ययन से भी पता चलता है कि व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने के लिए शिक्षा की जो योजना बनती थी, उसमें कलाओं का महत्वपूर्ण स्थान था और व्यक्ति को एक—न—एक कला में अच्छी दक्षता प्राप्त करना आवश्यक होता था।

भारत की पुराण—गाथाओं, ग्रंथों और भारतीय अन्य शास्त्रों से पता चलता है कि शिक्षा में कलाएं प्रमुख स्थान रखती थीं। प्राचीन और मध्यकाल में एक नागरिक या सुसंस्कृत व्यक्ति वह समझा जाता था, जो 'चतुःशक्तिकला—प्रवीण' हो। ''प्राचीन भारत का यह रईस वह स्वयं इन कलाओं का जानकार होता था। नागरिकों को खास—खास कलाओं का अभ्यास कराया जाता था। केवल शारीरिक अनुरंजन ही कला का विषय न था, मानसिक और बौद्धिक विकास का ध्यान पूरी मात्रा में रखा जाता था। उन दिनों किसी पुरुष को राजसभा और सहृदय—गोठियों में प्रवेश पा सकने के लिए कलाओं की जानकारी आवश्यक होती थी, उसे अपने को गोठी—विहार का अधिकार सिद्ध करना होता था।''

जापान में हर शिक्षित व्यक्ति को, स्त्रियों को तो अवश्य ही फूलदान में सुंदर ढ़ंग के फूल सजाना आता है। जापान में यह कला समाज में ऊंचा स्थान रखती है ओर इसे काफी मेहनत करके सीखना पड़ता है। वहां की सब पब्लिक परीक्षाओं में फूल सजाने की परीक्षा भी होती थी और उसमें उत्तीर्ण होना ही पड़ता था। चीन की सभ्यता के अनुसार किसी राजा या खास ऊंची पदवीवाले व्यक्ति के गुणों का बखान करते समय किसी—न—किसी कला का पहले नाम आता ही है। या तो वह बड़ा कवि होगा या चित्रकार या केलीग्राफिस्ट या गायक आदि।

यूनान के दार्शनिक प्लेटो से सभी परिचित हैं। उनका लिखा हुआ 'रिपब्लिक' उनके आदर्श समाज का चित्र है। प्लेटो का दर्शन ही था कि शिक्षा में वह शक्ति होनी चाहिए, जिससे व्यक्ति में छंद और सामंजस्य

का निर्माण हो। उसके अनुसार ''.... हमारे नागरिक का विकास पुरुष की अवस्था को पहुंचने के लिए केवल सुंदर और लावण्यमय वातावरण में हो। उसमें से बदसूरती और दुर्गुणों को निकाल दिया गया हो ।... अगर हमारे युवकों को जीवन में कुछ काम करना है, तो क्या उन्हें इस लावण्य–सामंजस्य को अपना शाश्वत उद्देश्य नहीं बनाना चाहिए ? हां, जरूर बनाना चाहिए। कोई शक नहीं कि चित्रकार की कला और दूसरी सभी सृजनात्मक और रचनात्मक कलाएं इनसे भरी पड़ी हैं– बुनाई, कढ़ाई, वास्तुकला और हर तरह का उत्पादन का काम।'' संगीत के बारे में ''और, इसीलिए तो मैं कहता हूं कि संगीत–शिक्षा दूसरे माध्यमों से कहीं अधिक शक्तिशाली माध्यम है, क्योंकि छंद और सामंजस्य का प्रवेश हृदय (आत्मा) के गहरे स्तर में होता है और वे उसके साथ जोर से बंध जाते हैं। उनसे लावण्य का निर्माण होता है। वे जिसे उचित शिक्षा मिली हो, उसे लावण्यमय बनाते हैं; और जिसे यह अंतरजीवन की शिक्षा मिली है, वह होशियारी के साथ कला और प्रकृति की कमियों और गलतियों को समझ लेगा। वह सच्ची सुरुचि के साथ जब कि सत्य की तारीफ करेगा, उससे आनंद–लाभ करेगा और उसे अपने हृदय में अपना लेगा, बुरे से घृणा करेगा, उसकी निंदा करेगा । यौवन–काल में, जब कि उसे कारण भी नहीं मालूम होते, उसका इस तरह विकास होगा।''

व्यक्ति के विकास की प्रारंभिक अवस्था में कला–शिक्षा के द्वारा लावण्य–निर्माण होता है, यह एक शास्त्र के तौर पर प्लेटो ने प्रस्तुत किया। उन्होंने जब छंद और सामंजस्य का जिक्र किया, तो स्पष्ट ही है कि उनका मतलब तथाकथित कलाओं के छंद और सामंजस्य का नहीं, बल्कि संपूर्ण जीवन के सामंजस्य और छंद का है। भले–बुरे, गुणों–दुर्गुणों आदि को समझने के लिए जिस बोध की आवश्यकता है, कला–शिक्षा वह बोध प्रदान करा सकती है। यह विचार ढाई हजार साल पुराने दार्शनिक प्लेटो का ही नहीं, बल्कि संसार की सभी सभ्यताओं का है।

यह लावण्य कलाकार सीखता कहां से हैं? प्रकृति में इसका दर्शन होता है। इसलिये पहले प्रकृति में लावण्य और लालित्य की खोज–बीन करनी चाहिए।

हम यह मानते है कि सौंदर्य–निर्माण की कोशिश जीवन के ध्येयों में से एक है। प्रकृति की हर कोशिश 'जीवन' में संतुलन बनाने–लवण्य–निर्माण करने की है। 'प्रकृति' शब्द का मतलब व्यापक अर्थ में लिया गया है। मनुष्य भी प्रकृति का अंग है। मनुष्य का कुछ व्यवहार तो जान–बूझकर सचेत मानस द्वारा होता है और कुछ अनजाने में सहजात वृत्ति द्वारा। मनुष्य की ये प्रवृत्तियां उसी तरह काम करती हैं, जैसे प्रकृति की दूसरी सजीव वस्तुओं में उनका नैसर्गिक स्वभाव काम करता है। जहां तक लावण्य का प्रश्न है, प्रकृति का प्रयत्न हर समय और हर वस्तु में उसे निमार्ण कारने का होता है। जैसेः एक पेड़, जिसकी एक तरफ की डाल अगर किसी कारण टूट गई हो और जो उसके कारण अपना संतुलन खो बैठा हो, यही कोशिश करता है कि संतुलन फिर से स्थापित किया जाए। वह जिधर की डाल टूटी है, उधर ही अपनी नई शाखाएं फेंकता है। अक्सर देखा यह गया है कि अगर दूसरा 'एक्सीडेंट' न हो, तो पेड़ का संतुलन कुछ वर्षों में फिर से कायम हो जाता है।

पहले–पहल चलने का प्रयत्न करनेवाले शिशु को देखकर मामूली व्यक्ति को लगता है कि वह लड़खड़ाकर चल रहा है। किंतु क्या वह उस नृत्यकार की तरह नहीं है, जो बारीक रस्सी पर खड़ा होकर नाचने (रोप डांस) की कोशिश कर रहा हो और अपना संतुलन संभालने के लिए इधर–उधर हाथ फैला रहा हो। वह शिशु भी अपने चलने में अपनी संतुलन लाने में लगता है। इन स्पंदनों के कारण जो 'पैटर्न' उसके शरीर में बनते हैं, वे वैसे ही होते हैं, जैसे कि एक नृत्यकार के शरीर में नृत्य के समय होते हैं। ये सब एक ही सिद्धांत के उदाहरण हैं। वह सिद्धांत यह है कि प्रकृति की हर चीज संतुलन और सामंजस्य के साथ विकास (ग्रो) करती है। अगर यह संतुलन किसी दुर्घटना के कारण टूट जाए, तो प्रकृति का पूरा प्रयत्न संतुलन को फिर से सुधार लेने में लगता है।

प्रकृति की एक और कोशिश, ऊपर कही कोशिश के साथ–साथ चलती रहती है। उसके पीछे ध्येय मितव्ययिता उपयोगिता होती है। प्रकृति में हर वस्तु के निर्माण में यह प्रयत्न रहता है कि कम–से–कम व्यय हो, यानी जितना जरूरी है, उससे अधिक न हो। किसी फल को–संतरे को ही लें। वनस्पति–शास्त्र के विशेषज्ञ से पता चलेगा कि उसके अंदर जो तत्व आदि लगे हैं, वे सब उसके निर्माण के लिए आवश्यक हैं।

उसके अंदर जो तत्व आदि लगे हैं, वह भी कहते हैं कि बिलकुल गणित के हिसाब से ठीक परिमाण में होता है। उसमें कोई भी चीज ऐसी नहीं होती या इस प्रमाण में नहीं होती कि वैज्ञानिक यह कह सके कि यह फिजूल व्यय किया गया है।

इन दोनों प्रयत्नों– सौंदर्य–निमार्ण और मितव्ययिता में इतना समन्वय है कि एक अवस्था में जाकर इन्हें 'एक ही ध्येय के दो नाम' कहा जा सकता है। जो शक्ति मितव्ययिता में लगती है, वही अंत में सौंदर्य के रूप में परिणत हो जाती है और जो सौंदर्य–निर्माण में खर्च होती है, वह उस वस्तु को संपूर्ण रूप देती है।

हमें ऐसा लगता है कि प्रकृति में कुछ ऐसे सिद्धांत, नियम आदि होंगे, जो ऊपर कहे दोनों प्रयत्नों के आधार होते होंगे। उसका भी कुछ गणित होता होगा। अनेक कला–विशेषज्ञ यह मानते हैं कि 'पैटर्न–मेकिंग' के पीछे एक गणित होता है। उस गणित को सीख लिया और उसका उपयोग सर्वजन के काम में ले लिया, तो वस्तु सुंदर बन जाती है। इस विचार की पुष्टि कई बातों से होती है। प्राचीन भारतीय मूर्तिकला के ऊपर कुछ शास्त्र हैं। उनमें मूर्तियों के निश्चित परिमाण आदि का जिक्र मिलता है। मूर्ति के हर अवयव का एक–दूसरे के साथ क्या परिमाण होना चाहिए, यह बिलकुल निश्चित रहता था। पुरानी मूर्तियों का 'इस प्रकार प्रत्यक्ष अध्ययन किया गया है। उनमें कुछ सर्वसामान्य 'परिमाण' पाए जाते हैं। उन्हें देखकर लगता है कि वे गणित के सिद्धांतों जैसे ही बुनियादी सिद्धांत हैं। यह बात वास्तुकला में और भी अधिक स्पष्ट है। मकान की लंबाई–चौड़ाई का परिमाण, उसकी खिड़कियां, दरवाजों आदि का बिलकुल गाणित के हिसाब से निश्चित परिमाण होना चाहिए, ऐसा पुराने शास्त्र मानते आए हैं। यहां तक कि उनमें धार्मिक भावना तक जोड़ दी गई है। संगीत का सप्तक तो गणित की इस बात को सिद्ध करनेवाला एक सुंदर नमूना ही है।

इसका अर्थ यह है कि यह सिद्धांत सौंदर्य–बोध और मितव्ययिता या उपयोगिता (एस्थेटिक और फंक्शनल) की पीछे सामान्य तौर पर अंतर्निहित है। अगर सच्ची मितव्ययिता यानी उपयोगिता (इसका अर्थ कम खर्चीलापन नहीं लिया जाए, बल्कि 'फंक्शनल' लिया जाए, यानी वस्तु का काम की दृष्टि से उचित उपयोग) की कोशिश होगी, तो मितव्ययिता उपयोगिता भी सधेगी। यह बात आसान नहीं है, क्योंकि आज हमारे विचारों में सौंदर्य और उपयोगिता इतनी अलग–अलग बातें बनकर बैठ गई हैं कि ऊपर कही गई बात मन में बैठने में कुछ समय लगेगा।

इस बात को आधुनिकतम डिजाइनर्स मानने लगे हैं और यह तभी समझ में आ जाता है, जबकि कुछ आधुनिक उपयोगी वस्तुओं को देखा जाए। इसी प्रश्न पर हर्बर्ट रीड लिखते हैंः ''कहा जा सकता है कि कुछ उपयोगी वस्तुएं कल्पना में भी कभी सुंदर नहीं बनाई जा सकतीं। मैं मानता हूं कि इसकी संभावना कभी–कभी मुश्किल से होती है। पर कुछ निरीक्षण के बाद देख सकेंगे कि अनेक वस्तुएं, जिनसे ऐसी आशा भी नहीं होती, एक प्रकार का ऐब्सट्रेक्ट (भावनात्मक) सौंदर्य रख सकती हैं। मोटरकार इसका एक स्पष्ट नमूना है, पर उससे भी अच्छा नमूना रेडियो–सेट का है। पिछले पांच–दस वर्षों में सुंदरता की ओर उसका विकास कमाल का हुआ है। रॉजर फ्राइ (यूरोप के सुप्रसिद्ध कला–विशेषज्ञ) आंका करते थे कि क्या कभी टाइपराइटर भी सुंदर हो सकेगा, किंतु पिछले वर्षों में उसका नमूना कहीं अच्छा बनने लगा है, जो पहले से बे–मिलान है। हालांकि अभी भी कोई टाइपराइटर को एक कलाकृति नहीं मानेगा, पर उसका विकास अवश्य ही उसी ओर हो रहा है। ''

इस मुद्दे पर अधिक चर्चा करना हमार विषय नहीं है, परंतु इससे यह बताने का प्रयत्न किया कि सौंदर्य–निर्माण के पीछे उपयोगिता का प्रश्न जुड़ा हुआ है, और दोनों की सतह में ऐसे कुछ नियम अंतर्निहित हैं, जो गणित के सिद्धांतों की तरह होते हैं और जिन्हें सीखा जा सकता है।

कलाकार दो प्रकार के होते हैंः एक तो वे, जो केवल आंतरिक बोध इंट्यूशन के द्वारा सृजन करते हैं। कलाकार का दूसरा प्रकार वह होता है, जिसमें सृजनात्मकता बुद्धिप्रधान होती है। आंतरिक बोधवाली शक्ति सिखायी नहीं जा सकती, पर उस सृजनात्मकता का थोड़ा–बहुत ज्ञान आम व्यक्ति को जरूर सिखाई जा सकता है, जिसका आधार बौद्धिक होता है। ऊपर कहे गए सिद्धांतों को बुद्धि से खोजना, समझना और उपयोग करना शिक्षा का विषय है।

इस प्रकार मनुष्य जो प्रकृति से लेकर आता है; उसके द्वारा तो लावण्य–निर्माण करने की शक्ति रखता ही है, पर संस्कारों के द्वारा, शिक्षा के द्वारा जान–बूझकर एक संपूर्ण प्रभावशील व्यक्ति बनने की शक्ति भी रखता है। इतनी चर्चा के बाद भी कुछ लोग यह कह सकते हैं कि कलात्मकता तो जन्मजात ही आती है, उसे सिखाया नहीं जा सकता। हां, काफी हद तक यह बात ठीक हो सकती है; मौलिक रचना करनेवाले कलाकार का जहां तक प्रश्न है, यह बात ठीक है। पर जहां तक हमने आम व्यक्ति के इसमें प्रवेश करने की आशा रखी है, वहां तक यह कठिन नहीं होनी चाहिए। क्या यह सच नहीं कि पुराने जमाने में कलाकार, शिल्पकार सभी वंश की परंपरा द्वारा बनते थे? पिता के बाद वह काम पुत्र करे, यह साधारण मान्यता थी। तो क्या हर पुत्र जन्मजात कलाकार होता था? यह सच है कि हर कलाकार का पुत्र मौलिक रचनाएं करनेवाला कलाकार नहीं हो सकता था, पर एक स्तर तक तो उसे अपने 'धंधें' में विशेषज्ञ होना ही पड़ता था। इसी प्रकार आम मनुष्य की शिक्षा में कला–शिक्षा इसलिए जरूरी है कि वह कला–बोध का लाभ करे और साथ ही अपना व्यक्तित्व प्रभावकारी बना सके।

इस तरह की बुनियाद, जैसा कि प्लेटो ने कहा है, बचपन से ही डालनी चाहिए, क्योंकि अनेक ऐसी बातें होती हैं, जो एक खास उम्र में ही करनी ठीक होती हैं। नृत्यकार का शरीर तभी सुंदर और छंदमय बन सकता है, जब कि उसे बचपन से ही उसकी शिक्षा मिली हो। बड़े होकर शरीर को बदलना मुश्किल होता है। बचपन में अगर शरीर की ठीक ढलाई हो, तो बड़ी उम्र में भी वह ठीक रहता है। जो गला छुटपन से ही सध जाता है, उसमें स्वर सदा के लिए समा जाता है। संगीतज्ञ के गले का सुरीलापन कम उम्र से ही निर्मित होना शुरू हो जाता है। कला बोध जिस गहराई में बचपन से ही अभ्यास होने से प्रवेश करता है, वह बड़े होकर करना बिरलों के लिए ही संभव होता है। ये जो कला बोध (सेंसिबिलिटी) से संबंध रखनेवाले विषय है यानी सृजनात्मक और निमार्णात्मक विषय, उनके द्वारा जिस विकास की अपेक्षा है, वह बाल्यावस्था में ही होना शुरू हो जाता है। बचपन में अगर उसमें प्रवेश नहीं पा सके, तो बड़े होकर यह असंभव हो जाता है। बड़ा होने के बाद भी दरवाजा केवल उन्हीं लोगों के लिए खुलता है, जिनमें कुछ प्रतिभा होती हैं।

चित्रकला और मूर्तिकला या अन्य शिल्पों की शिक्षा के द्वारा जीवन की जो गुत्थियां सुलझती हैं, उनका सबसे महत्वपूर्ण समय बाल्यावस्था होता है। वही विकास का काल होता है। उस काल में आंनद का और तृप्ति का विशुद्ध अनुभव हो, तो विकास स्वस्थ होता है। कला शिक्षा इसी स्वच्छ लावण्यमय विकास का रास्ता है।

इस अध्याय में कला शिक्षा क्यों, इस प्रश्न पर चर्चा की। कला शिक्षा के अन्य पहलू भी हो सकते हैं, पर जिनकी हमने यहां चर्चा की, वे जगत के आज के संदर्भ में विशेष महत्व रखते हैं। समाज में हर तरह के सांस्कृतिक दैन्य का दर्शन होता है। मन के तनाव और दबाव आदि के कारण यह हालत है या बोध की कमी के कारण, या सच्ची दृष्टि के अभाव के कारण यह दुर्दशा है, इसका उत्तर देने की आवश्यकता नहीं। हां, यह जरूर है कि मनुष्य शांत और आनंदित तभी रहता है, जब कि उसकी शारीरिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे। कल शिक्षा जिस सत्यदृष्टि का निर्माण करती है, उसके द्वारा हर तरह की आवश्यकताओं की पूर्ति होने में मदद मिलती है। आखिर तो आंनद–लाभ ही जीवन का उद्धेश्य है। नन्दबाबू की पुस्तक 'शिल्प कथा' का आखिरी पैरा हैः ''कुणाल जातक में कामलोक की कथा आती है ... उससे परे रूपलोक, उससे भी परे अरूपलोक। मेरा कहना है कि उससे भी परे आनंदलोक है। कामलोक आसक्ति है, इसलिए अंधापन है। रूपलोक में पहुंचने पर जीवन में अखिल जीवन के कुछ स्पंदन का अनुभव हुआ। आंनदलोक में रस है। शास्त्रों में कहा गया है, रसो वै सः।''

शिक्षा का वाहन कला, देवी प्रसाद
एन बी टी, दिल्ली, १९९९

वर्षा की रोशनी लड़का, उम्र 5 वर्ष

सेवाग्राम से वर्धा की रोशनी रात की चमकती हुई दिखती है। बालक ने पहले से ही योजना बनाई थी कि वह उसका चित्र बनएगा।

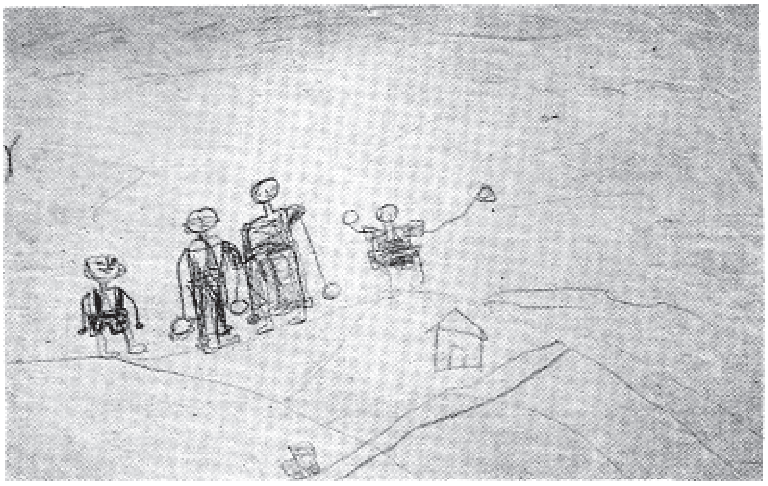

मैं और मेरे माता–पिता लड़का, उम्र 6 वर्ष विषयों का सुझाव देने पर इस प्रकार कल्पना शक्ति को जगाया जा सकता है। साथ–साथ बालक के मानस को उसके जरिए समझा भी जा सकता है।

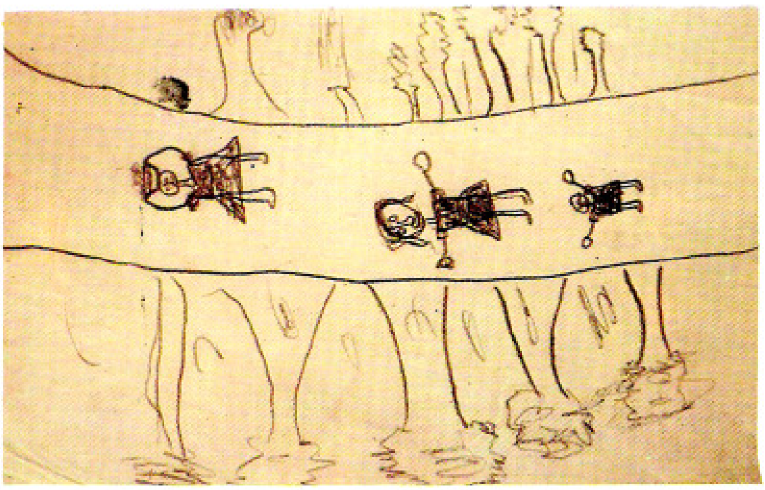

सड़क पर आदमी चल रहे हैं लड़का, उम्र 6.4 वर्ष वर्णन पृष्ठ–संख्या 47 पर देखिए।

लड़का, उम्र 11 **रथ**

इस बालक को बोलते हुए बहुत कम देखा। किंतु साथ में चित्रकला के लिए एक बही हमेशा पास रखता था। उसका अधिकतर आत्म–प्रकटन चित्रकला द्वारा ही होता था।

गुरुजी

लड़का, उम्र 11 वर्ष

इस उम्र में संकोच नहीं होता, इसलिए ड्राईंग में जोर रहता है।

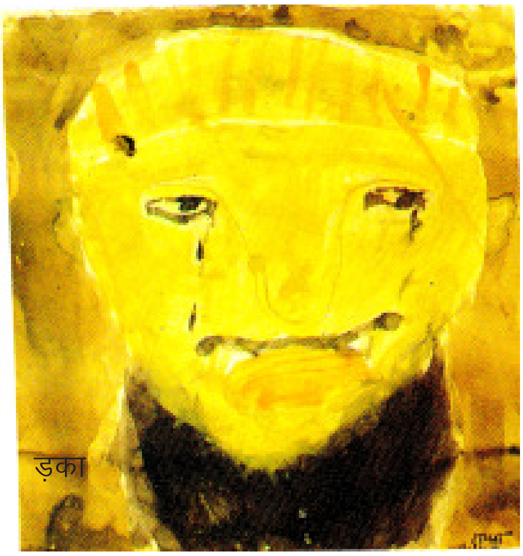

ड़का

बेचारा मनुष्य

लड़का उम्र 11.8

यह बालक स्वयं बड़ी उदास वृत्ति का था। इसका रंगों का चुनाव ही देखने योग्य है। मनुष्य का मुंह हरा बनाने में उसे कोई संकोच नहीं हुआ।

लड़का,उम्र 11.6 वर्ष

बालक का स्वभाव उसके चित्रों में प्रतिबिंबित होता है। यह बालक उत्साही और स्फूर्तिशील था।

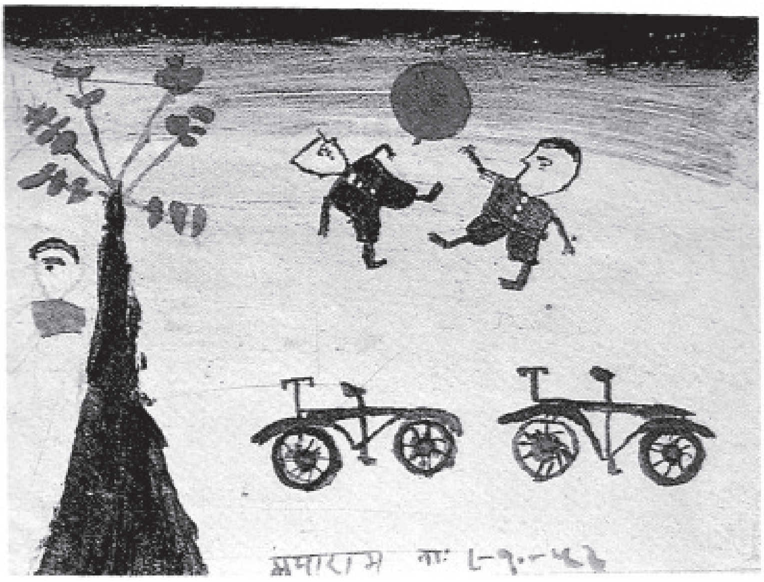

आगे गुरुजी पीछे हम

लड़का, उम्र 12वर्ष

पहले चित्र की तरह ही एक विषय देकर कल्पना को जगाया जा सकता है। इस चित्र का विषय था '' अपने वर्ग की कोई प्रवृत्ति''।

बाघ और तोता

लड़का, उम्र 12वर्ष

बालक शरीर और मन दोनों से कमजोर प्रकृति का था। हमेशा शिकायत करनेवाला। एक बाघ को तोता उपर से चोंच मारकर तंग कर रहा है– यह चित्र का विषय है। हो सकता है कि बेचारा उदास बाघ ही बालक स्वयं ही है और तोता दूसरे लोग, जो उसे तंग करते हैं। मनुष्य के अंतर मानस में बहुत कुछ हो सकता है।

लड़का, उम्र 12 वर्ष **पक्षी**

इस चित्र को बनाते समय बालक ने इस कई बार बदला। उसके मन में एक खास रंगमेल था, जिसे बिना पाए वह चैन नहीं लेना चाहता था। जब चित्र पूरा हुआ, तो शिक्षक के पास आकर बड़े आनंद से उसने अपनी कृति दिखाई।

लड़का, उम्र12वर्ष **शिवाजी**

वास्तविकता वाद के प्रारंभ का स्पष्ट उदाहरण। दाढ़ी के बालों को वास्तविक आकार देने के लिए किस प्रकार कुची चलाई गई है, यह देखने योग्य है।

कृष्ण भगवान् बालिका का उम्र12.

बालिका का बौद्धिक स्तर अच्छा और उसकी चित्रकला में आलंकारिकता विशेष परिमाण मे थी।

वर्षा के दिन लड़का उम्र 12.6 वर्ष

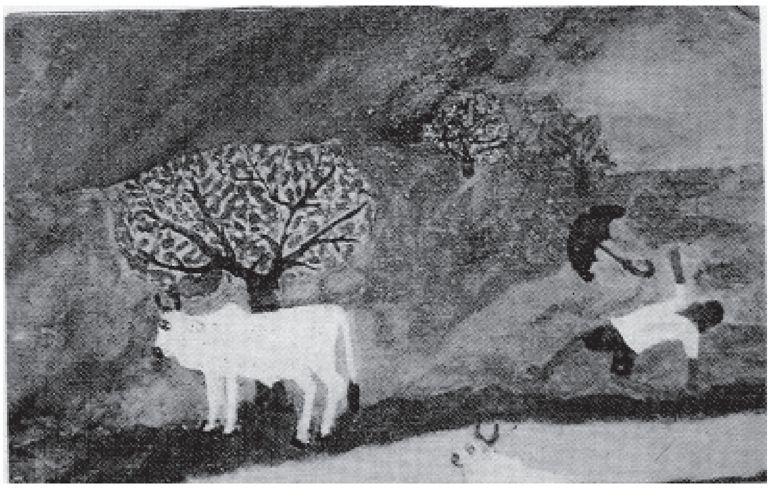

(वर्णन पृष्ठ–संख्या 44 पर देखिए)

ग्वालिन

बालिका की उम्र 13 वर्ष थी, उसका मानसिक विकास 10–11वर्ष के लगभग ही हुआ था परंतु ज्योंही उसने चित्रकला में रुचि लेना प्रारंभ किया, उसका विकास गति से होने लगा। वह शाला की सबसे प्रतिभाशाली बाल–चित्रकार' हो गई।

लड़का, उम्र 13.6 वर्ष

जब मैं कुएं में गिरा

बालक एक दिन कुएं से पानी निकालते उसमें गिर पड़ा। निकालने के बाद उससे उसक साथियों ने पूछा, कैसा लगा कुएं में ? उसने अगले दिन एक लेख लिखा और यह चित्र बनाया। उसके शरीर का रंग नीला दिया है। शायद यह भय के कारण होगा।

शरदोत्सव लड़की, उम्र 14वर्ष

यह बालिका इस विशेष कार्यक्रम की संयोजिका थी और स्वयं नृत्यकला की अच्छी विद्यार्थिनी।

खिड़की में लड़की की उम्र 14.3वर्ष

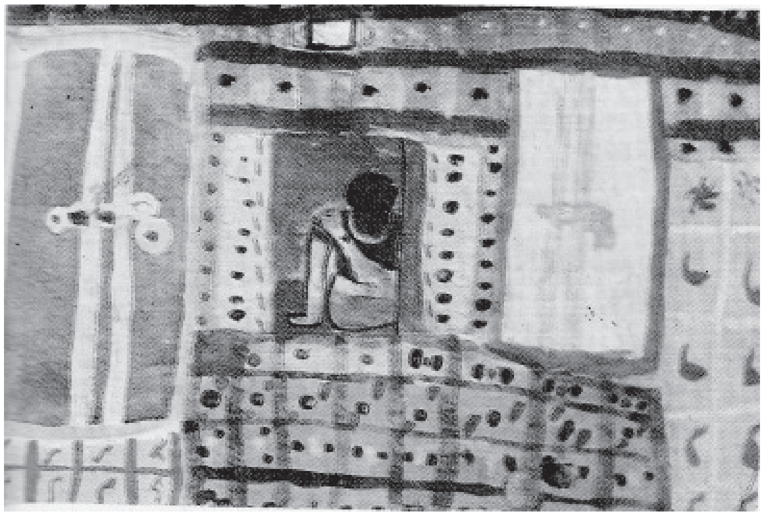

यह बालिका चित्र–कला में विशेष रूचि रखती थी। बाकी विषयों में काफी पिछड़ी हुई थी।

गुरुजी का घर

इस बालिका का अधिकतर काम आलंकारिक होता है।

पठन सामग्री 5

बच्चों की नजर से

''बालक की कलाकृति की सबसे
सुंदर चीज उसकी गलतियां हैं। . . . और
जितना इन गलतियों को शिक्षक
सुधारता जायेगा, उतनी ही
बेजान, मंद और व्यक्तित्वहीन वह
कृति बन जायेगी।''

– फ्रांज सिजेक

अभी तक सब कुछ सयानों की नजर से देखा। शिक्षक की दृष्टि कैसी होनी चाहिये, इसी बात पर चर्चा की। लेकिन जिसे शिक्षा देनी है, वह सयाना नहीं है। इसलिये उसकी दृष्टि सयानों जैसी नहीं है।

जितना सोचकर या काट–छांटकर सयानों की नजर तैयार होती है, बच्चों की उस तरह नहीं होती। इस काम का नतीजा 'यह होगा' या 'इसके जरिये ऐसे संस्कार पड़ेंगे', यह भी नहीं देखता। बच्चा तो हर समय नये–नये अनुभवों की खोज में रहता है। हर चीज को परखना चाहता है। हर चीज के साथ परिचय करना चाहता है। वह जिस चीज से परिचय करता है, उसमें आनंद ढूंढ़ता है और अगर उसे उस चीज या काम में आनंद मिल जाता है, तो उसे दोबारा करता है और नये अनुभव पाता है। बच्चा अपने चारों तरफ की उन–उन चीजों की तरफ तेज निगाह से देखता है, जिनको सयाने नजर उठाकर भी नहीं देखते, बल्कि जिनके बारे में सयानों को सचेतता भी नहीं होती। असल में बात यह है कि बच्चे की दुनिया एक तरह की है और बड़े की दूसरी तरह की। दोनों ही अपनी–अपनी दुनिया में रहते हैं। दोनों के देखने के तरीके और देखने के विषय भी अलग–अलग होते हैं। मेरा कहने का मतलब यह नहीं कि बच्चा जिस चीज को देखता है, बड़ा उसे नहीं देखता। चीजें दोनों की एक ही हैं। वही लालटेन बड़ा देखता है, वही बच्चा। लेकिन बड़ा उसको किसी और दृष्टि से देखता है, छोटा किसी और से। उदाहरण के लिए बड़ा जहां यह देखता है कि लालटेन की रोशनी साफ है या नहीं, वहां बच्चा शायद उसके ऊपर चलनेवाले एक कीड़े की तरफ एकटक निगाह से देखता रहता है या शायद लालटेन की चिमनी के गंदे होने के कारण उस पर जो कुछ दाग हो गये हों, उन्हीं को देखकर आनंद लेता है। अगर लालटेन बुझ जाय, तो बच्चे की खुशी उस लालटेन के बुझने के अनुभव को पाने में होती है। वह 'हो! हो!' कर आनंदित हो उठता है, जब कि सयानों को लालटेन के बुझने से गुस्से का अनुभव होता है। अर्थ यह है कि बच्चे के लिए हर पल नये अनुभव का समय है।

एक और बात है। जिस तरह बच्चे की दुनिया सयाने की दुनिया से अलग है, उसी तरह अच्छे और बुरे, सुंदर या असुंदर का नाप भी सयाने का बच्चे के जैसा नहीं होता। जिस चीज को देखने में बड़ो को घृणा होती है, बच्चे को उसी में मजा आ सकता है। जैसे कि जब एक बच्चा बारिश के कीचड़ में खेल रहा हो या किसी 'मैली' चीज में हाथ सानकर मजा ले रहा हो या एक केंचुए को उंगली से इधर–उधर कर रहा हो, उस समय कोई सयाना उधर से गुजरता हो, तो अक्सर ही वह उस बच्चे को यह कहकर डांट देता है कि यह क्या गंदा काम कर रहा है? दोनों की दुनिया और दोनों की नजर अलग–अलग है।

बच्चे के लिए ऐसे विचार, कि कला की आध्यात्मिक बाजू ऐसी हो या उसके आकार के पहलू की तरफ उसकी ऐसी दृष्टि हो, आदि बिलकुल कीमत नहीं रखते। वह तो यह देखता है कि क्या इसमें मुझे आनंद मिलेगा? अगर उसे आनंद मिलता है, तो वह उसमें रम जाता है।

अपनी इस चर्चा को अभी हम चित्रकला और ड्राइंग तक ही सीमित रखेंगे। हमारा वही विषय है। कला में बच्चा आनंद लेता है, यह तो उसी समय पता चल जाता है, जबकि उसके सामने रंग और कागज रख दें और कहें कि लो, यह इस्तेमाल करो। शायद ही कोई बच्चा ऐसा होगा, जो इस मौके को चूकना पसंद करेगा। (आगे चलकर चर्चा करेंगे कि कुछ बच्चे पहले रंग और कागज पर हाथ भी लगाने की हिम्मत क्यों नही ंकरते? औसत बच्चा रंग और कागज देखते ही खुश हो जाता है। कुछ विशेष अपवाद तो छोड़ने ही पड़ते हैं।)

बच्चे को कीचड़ में खेलने से जो 'ठंडा' और 'मुलायम' छूने का अनुभव होता है, उसी में उसे आनंद मिलता है। चित्र या ड्राइंग बनाने में भी उसे कई तरह से आनंद और संतोष मिलता है। किस–किस तरह उसे आनंद मिलता है, यह देखें।

बढ़ई का बच्चा, जबकि हथौड़ा पकड़ना भी नहीं जानता, हथौड़े का क्या काम है, यह भी नहीं जानता, तभी से वह अपने पिता को काम करते देख उसके पास जाकर बैठ जाता है। धीरे–धीरे एक दिन हथौड़ा उठाकर उल्टा–सीधा चलाने लगता है। वह अपने पिता की तरह करता है। इस शुरू की अवस्था में भी क्या वह हथौड़े को किसी ध्येय यानी कुछ चीज बनाने के विचार से चलाता है? नहीं। वह हथौड़ा चलाने में 'यानी काम के करने' में जो आनंद है, वह लेता है। हाथ–पैर चलाना, उंगलियों को चलाना, यही उसके लिए एक मजे की बात है।

कई किस्म के काम होते हैं। किस्म–किस्म के काम करने से मनुष्य की अलग–अलग भावनाओं, व त्तियों और कर्मेंद्रियों को संतोष मिलता है। बढ़ई के औजार इस्तेमाल करने से एक किस्म का और पेंसिल, कागज तथा रंग इस्तेमाल करने से और एक किस्म का संतोष होता है। दोनों तरह के 'करने' में ही आनंद है। बच्चा किस्म–किस्म की प्रवृत्तियों को करने से आनंद पाता है। चित्रकला और ड्राइंग का काम करने का जो आनंद है, वह बच्चे के लिए एक खास कीमत रखता है।

कोई काम पूरा करने के बाद और खासतौर पर निर्माणात्मक काम पूरा करने पर बनायी हुई चीज को देखकर एक आनंद होता है। बच्चे के सामने रखा सामान– लकड़ी और बढ़ई के औजार, गीली मिट्टी या रंग, कूंची और कागज उसे एक तरह का निमंत्रण देते हैं, आह्वान देते हैं। वे उसे यह कहते हुए सुनाई देते हैं: ''हमें लेकर क्या बना सकते हो?'' बच्चा फौरन लगकर जो कुछ बनाता है, उसे देखकर उसके मन में और एक भावना जगती है। वह मन–ही–मन कहता है: ''देखा, बना दिया!'' चीज पूरी करने के बाद यह 'मैं कुछ कर सकता हूं', की भावना बच्चे के आनंद का झरना है। उसे यह विश्वास कि 'वह निपुण, आनंद से भर देता है। इसका और साफ सबूत तब मिलता है, जब कि उनकी अपनी चित्र–प्रदर्शनी बच्चे खुद देखने जाते हैं। उनका सबसे पहला काम होता है कि यह पता चलायें कि उनका अपना चित्र वहां है या नहीं। और जब मिल गया, तो उसी के सामने खड़े होकर उसे निहारते रहते हैं। ऐसे मौकों पर बच्चों को उनके अपने चित्रों के बारे में इस तरह के वाक्य अक्सर कहते हुए सुना जाता है: ''कितना अच्छा लगता है। ओ! हो ! मेरा भी चित्र है, यह देखो।''

बच्चे के पास शब्दों की भाषा कम होती है। किंतु उसके पास दूसरी ऐसी भाषा होती है, जो उसके मन में भरी कहानियों और अनुभवों को दूसरों को बता सके। एक बात देखेंगे। बच्चे के ये अनुभव या उसकी ये कहानियां शब्दों से नहीं, बल्कि 'आकारों' से भरी होती हैं। जैसे अगर उसके अनुभव या कहानी में एक पहाड़ आता है, तो उसके सामने पहाड़ शब्द नहीं, बल्कि पहाड़ वस्तु का आकार होता है। वह उसे दूसरों को बताते समय तभी पूरा संतोष मानेगा, जब कि जो मन में है, वहीं प्रकट कर सके। मन में तो चीज का आकार है, चीज का नाम नहीं। नाम का स्थान गौण है। इसीलिये देखा गया है कि बच्चे जब चित्र के द्वारा 'वर्णन' करते हैं, तब लगता है, मानो पूरा–पूरा बता पा रहे हैं।

यह तो आदमी की वृत्ति ही है कि वह अपने अनुभवों को दूसरों को बताना चाहता है। बच्चों में वह इच्छा और अधिक मिकदार में होती है और उनका यह वर्णन करना आकारों द्वारा ही सबसे अधिक सफलतापूर्वक होता है। यही उनका एक बड़ा आनंद का साधन है ।

हमारे एक विद्यार्थी की ही बात थी। एक दिन उसने एक चित्र बनाया (चित्र संख्या 13) जिसका विषय था : '' बारिश हो रही है । एक लड़का छाता लेकर सामने पेड़ से बंधे बैल को बारिश से हटाने के लिए जा रहा है। हठात पैर फिसला। इस छोटे कलाकार का यह चित्र जब करीब–करीब पूरा हो रहा था, तो उसने उठाकर उसे दूर रखा और खुद पीछे दूर हटकर गर्दन इधर–उधर हिला, चित्र को देखने लगा। यह बात उसे मालूम नहीं थी कि मैं उसे अच्छी तरह देख रहा था। वह चित्र के 'विषय' में इतना लीन हो गया कि जो चित्र में घट रहा था, उसे अपने में भी अनुभव करने लगा। मैंने देखा कि जिस तरह चित्र का लड़का फिसलकर गिर रहा था, उसी तरह हठात वह खुद भी बार–बार गिरने का अनुभव लेने लगा। यह नाटक करने में उसे जो आनंद मिल रहा था, वह सचमुच गहरा था। एक दूसरे विद्यार्थी ने एक मोटर का चित्र बनाया। मैं देख रहा था कि बनाते–बनाते वह खुद बार–बार ड्राइवर के हैंडिल पर हाथ चलाने का नाटक करता और मुंह से मोटर के भोंपू की तरह आवाज निकालता था। यह सब देखकर यही महसूस होता है कि बच्चे चित्र बनाते समय स्वयं वह वस्तु बन जाते हैं, जिसका वह चित्र बनाते रहते हैं। चित्र के 'विषय' की लहरें उनके अपने शरीर में, मन में नाटक खेलने लगती हैं। यह पहलू बड़े कलाकारों में पाया जाता है। चीन की कला पर चर्चा करनेवाले इतिहासकार इस तरी की कई कहानियां बताते हैं, जिनमें ऐसे कलाकारों का जिक्र किया गया है, जो अगर घोड़े के चित्र बनाने में उस्ताद हों, तो उनके अपने शरीर में घोड़े के हिलने–डुलने की लहरें समा जाती हैं। वे खुद भी घोड़े जैसा महसूस करते हैं। इस तरह की अनेक कहानियां कलाकारों के बारे में पायी जाती है। यह चित्र के 'नाटक' का पहलू बच्चे को अत्यंत आनंद का अनुभव प्रदान करता है।

बच्चा बड़ा कल्पनाशील होता है। वह हर क्षण नयी–नयी कल्पनाओं में बिताता है। एक मिट्टी का घर बनाता है, तो उसे किला और राजा का महल समझ लेता है। कुछ तिनके खड़े करके कहता है कि देखो, राजा के सिपाही आ रहे है। और अगर एक राजा और दूसरे राजा के बीच युद्ध कराना चाहता है, तो दूसरी दिशा में और कुछ तिनके खड़े कर देता है और वह उसका महल हो जाता है। कुछ कल्पना करके इन प्रवृत्तियों को शुरू करता है और इन्हें करते–करते उसे नयी–नयी कल्पनाएं आती रहती है। ये सब साधन–मिट्टी, रेत, तिनके आदि–उसे कल्पना करने में मदद करते हैं।

चित्र बनाते समय भी बच्चे के शुरू के वर्षों में, जब कि उसके चित्र बड़ों की नजर में कीरम–कांटे ही होते हैं, बच्चा उन कीरम–कांटों में पहाड़, नदी, नाले और आकाश तक को देख लेता है। बच्चों के इन चित्रों का विस्तार से जिक्र तो आगे चलकर करेंगे, किंतु यहां यह बताना चाहते हैं कि इस तरह चित्र बनाना बच्चों की कल्पना–शक्ति को प्रोत्साहन देता है। इस कल्पना–जगत में इस तरह की कवि–कल्पना करने में बच्चों को आनंद का लाभ होता है।

मनुष्य के मन में हर समय कुछ–न–कुछ भावनाएं उठती रहती हैं। यह स्वाभाविक है कि ये भावनाएं किसी–न–किसी तरह प्रकट होती रहें। इन्हें कोई–न–कोई निकास का रास्ता चाहिये ही। अगर आज का सूर्योदय देखकर कुछ विशेष भावनाएं उठें, तो तुरंत इच्छा होती है कि किसी को कहकर उन्हें व्यक्त करूं। कवि हो, तो कविता करके अपनी भावनाओं को रूप देगा और चित्रकार चित्र बनाकर। इस तरह अनेक माध्यमों के द्वारा इन भावनाओं का प्रकटन किया जाता है। फिर अनेक नयी–नयी भावनाएं उत्पन्न होती रहती है।

जीवन है ही लेना और देना। प्रकृति से लेना और उसे दे देना, यही जीवन है। एक घड़े को पानी से भरें, तो वह भर जायेगा। पूरा भरने के बाद वह और नहीं 'भरेगा'। वह पानी लेने से इनकार कर देगा। अगर उसमें और भरना है, तो उसे पहले खाली करना पड़ेगा। यानी लेने के लिए देना पड़ेगा। और अगर नया पानी लेना नहीं हुआ, तो पहले का पानी धीरे–धीरे सड़ता रहेगा। उसमें दुर्गंध आ जायेगी। इसी तरी आदमी को भी अपनी भावनाएं निकालनी ही पड़ती हैं। केवल सिद्धयोगी ही अपनी बुद्धि के द्वारा, अपने आत्मबल के द्वारा इनका भीतर–ही–भीतर निराकरण कर सकता है। सड़ने का मौका ही वहां नहीं होता। किंतु आमतौर पर साधारण व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। खासतौर पर बच्चे के लिए वह बात लागू हो ही नहीं सकती, क्योंकि वह इन सब चीजों के बारे में सज्ञान नहीं होता। वहां बुद्धि के द्वारा मन को दबा देने का सवाल ही नहीं खड़ा होता। उसे तो किसी–न–किसी तरह इन भावनाओं को रूप देकर बाहर निकालना ही पड़ेगा।

कला–प्रवृत्तियों द्वारा बच्चे की ये भावनाएं सफलातापूर्वक प्रकट हो जाती हैं। अच्छी शिक्षा का यह काम है कि योजना ऐसी बने, जिससे बच्चे की ये भावनाएं सुंदर और स्वस्थ रूप लेकर बाहर निकलें। इस बात को एक उदाहरण द्वारा पेश करें। अगर एक बच्चे को जरूरत से ज्यादा 'स्फूर्ति' हो और वह बिना कारण इधर–उधर चीजों को पटकता–पीटता फिरता हो, तो शिक्षक का काम है कि वह बच्चे की इस पटकने–पीटने की भावना को कोई प्रवृत्ति देकर सुंदर रूप दे। खूब ठोक–पीट करने का काम देने से भी उसकी यह वृत्ति काफी हद तक आत्म–प्रकटन पा सकेगी। बगीचा बनाने में खोदने का काम करना पड़ता है। मूर्ति बनाने में खुदाई आदि, कुम्हार–काम में खूब सारी मिट्टी लेकर पसीना तक निकाला जा सकता है। इस तरह के कई काम हो सकते है। चित्रकला द्वारा भी इसका अच्छा सुंदर रूप बन सकता है। वह शायद वैसा ही चित्र बनायेगा, जिसमें खूब मार–काट, ठोक–पीट आदि का विषय हो। किस भावना को किस प्रवृत्ति द्वारा निकास मिलेगा, यह तो शिक्षक मौके पर ही ठीक कर सकता है। किंतु यहां तो हम यही कहना चाहते हैं कि चित्रकला भी इन भावनाओं के निकास का सुदंर और स्वस्थ माध्यम है। जब ये भावनाएं निकल जाती हैं, तब आनंद का जो अनुभव होता है, वहा बड़ा महत्वपूर्ण है। बच्चे के व्यक्तित्व के विकास के लिए यह आनंद का अनुभव, जिसे तृप्ति का बोध भी कह सकते हैं, बहुत जरूरी है। यहां तक अनुभव हुआ कि इन प्रवृत्तियों के द्वारा बच्चे के दिल में अगर कोई भय भी बैठा हुआ हो, तो वह भी प्रकट होकर दूर हो जाता है।

बच्चा कला–प्रवृत्तियों में क्यों रूचि लेता है, इसके कुछ कारण ऊपर बताये है। आखिर में एक प्रयोग का जिक्र करता हूं। प्रयोग था कि बच्चे पुस्तकें लिखें। विषय–वस्तु तैयार करना, उसे चित्रित करना, सुंदर ढंग से लिखना, जिल्द बनाकर मुखपृष्ठ तैयार करना और उन्हें प्रकाशित करना–इतना काम था। वर्ग में तेरह बच्चे थे, जिनकी उम्र औसत चौदह साल थी। शाला से अलग समय का जिक्र है। एक विद्यार्थी से चर्चा करते–करते पुस्तकें लिखने पर बातचीत चल पड़ी। मैंने उसे बताने की कोशिश की कि पुस्तक लिखना कोई बड़ी बात नहीं है, अगर वह भी चाहे तो नयी पुस्तक तैयार कर सकता है। यह सुनकर उसे विचार बहुत पसंद आया और उसने तय कर लिया कि वह जरूर एक पुस्तक लिखने की कोशिश करेगा। तीसरे दिन इस विद्याथी ने अपनी टोली के सामने इस चिार को रखा। सभी बच्चे बड़े जोश में आ गये। इनमें से छह ने तय किया कि वे जरूर अपनी–अपनी पुस्तक लिखेंगें। सबने अपना–अपना विषय चुन लिया और अगले दिन से चित्र बनाना शुरू कर दिया। सोलह दिन के बाद छह पुस्तकें तैयार हो गयीं। लेख, कहानी कविता आदि बच्चे अक्सर लिखते हैं। कहानियों आदि को चित्रित करने के लिए भी किसी–किसी स्कूल में प्रोत्साहन दिया जाता है। किंतु ये बालक रामायण और महाभारत भी लिख डालेंगे, हमने भी कल्पना नहीं की थीं। ये बच्चे खुद तो इसके बारे में सोच ही क्या सकते थे। इस काम का पूरा विवरण देने की यहां जरूरत नहीं है। इन पुस्तकों का स्तर कैसा था, यह भी कहने की आवश्यकता नही। मुझे तो लगता है कि आमतौर पर जैसा साहित्य बच्चों के लिए तैयार हो रहा है, उनमें से अच्छे–से–अच्छे स्तर के साहित्य के साथ इनकी तुलना हो सकती है।

यहां तो बचों के ऊपर इस प्रयोग का क्या असर हुआ, यह बताना मुख्य बात है। जिस दिन पुस्तकें बनकर तैयार हुईं, एक बच्चे ने मुझसे अत्यंत भावुकतापूर्ण आवाज में कहाः "...मुझे कल तक भी नहीं मालूम था कि मेरी पुस्तक इतनी अच्छी बनेगी।"दूसरे बच्चों ने खूब चिल्लाकर कहाः "हां, हां, सचमुच हमें तो विश्वास ही नहीं था कि पुस्तकें बनेगी या न जाने क्या होगा...।"

बच्चों को यह जो आत्म–दर्शन हुआ, यह मुख्य चीज है। बच्चा एक खजाना है। उसमें बहुत शक्ति भरी पड़ी है। वह ऐसे काम कर सकता है, जो हम सयाने होने के कारण संकोच से नहीं कर पाते। इन पुस्तकों को लिखने के बाद इस आत्म–दर्शन से उन्हें पता चला कि उनके अंदर कितनी शक्ति है। मैंने इस चीज को पहले भी अक्सर महसूस किया था कला का हर काम व्यक्ति को आत्म–दर्शन कराता है। अपने अंदर जो है, उसका बाहर प्रकट हो जाना ही आत्म–प्रदर्शन की प्रक्रिया है। किंतु ऊपर लिखे गये प्रयोग के अनुभव से मुझे इस पहलू की शक्ति का पता चला। इस तरह का आत्म–दर्शन बच्चे को आनंद तो देता ही है, साथ ही साथ उसके संपूर्ण विकास का एक बहुत बड़ा जरिया भी बन जाता है।

पठन सामग्री 4 प्रस्तुत आलेख गुजरात के महान शिक्षाविद् गिजुभाई बधेका द्वारा लिखा गया है। इसे हमने उनकी पुस्तक, प्राथमिक शाला में कला और कारीगरी शिक्षा से लिया है। इस लेख में गिजुभाई ने बहुत ही तीखे अंदाज में सवाल उठाया है जिस माहौल में स्वतंत्रता व आनंद नहीं है वहां कला सृजन कैसे हो सकता है। इसे ध्यान से पढ़ें तथा अपने ही बचपन व स्कूल के अनुभवों को याद करें । संपादक

बालकों की सृजनात्मक क्षमता की हत्या

गिजुभाई बधेका

कुछ हत्याएं पीनल कोड की धारा के अधीन नहीं आतीं। उन्हें लेकर कानूनवेत्ताओं को अपराध जैसी कोई चीज़ नज़र नहीं आती। कानूनवेत्ताओं की न्याय–नीति संबंधी मर्यादाएं सिर्फ पीनल कोड से बंधी होती हैं। जीवन के प्रति होने वाला ऐसा एक अपराध है बालक की सृजन–शक्ति की हत्या।

किंतु सृजन का अर्थ क्या है ?

नन्हीं–सी कंकरी और गगनचुंबी पहाड़, ओस की नन्हीं सी बूंद और विशाल महासागर, चीटों–चीटियों से भी छोटे जीव–जंतु और जिराफ व हाथी के समान विशालकाय प्राणी, पैरों तले कुचली जाने वाली घास और ताड़ के समान ऊंचे वन–वृक्ष, प्रखर तेज वाला सूर्य और शीतल किरणों वाला चांद–ये सभी सामर्थ्य से परिपूर्ण आदि सृष्टि के सृजन हैं।

सिर पर तारों से जड़ा आकाश, पैरों तले खनिजों से भरी–पूरी धरती, मनमोहक रंग–बिरंगी तितलियां और मधुर–कोमल कंठ से गाने वाले भॉति–भांति के पक्षी, यह समूचा वनस्पति जगत, यह सारा का सारा जीव–जंतु जगत यह विशाल पशु–पक्षियों की दुनिया, सब के सब एक–एक से अद्‌भुत्, एक–एक से सुन्दर–यह सब सृजनाकर्त्ता की सृष्टि है। बर्फीले प्रदेश में रहने वाले हिम–मानव और प्रचंड धूप में रहकर काजल की तरह काले बने अफ्रीकावासी, यूरोप के गोरे लोग, चीन के पीले लोग, नोट कद के गोरखे और ॲचे–लंबे पोटेगोनियन–ये सभी एक ही पिता की संतानें हैं, सब के सब उसी के सृजन हैं।

कथा आती है कि वह एक था। उसने कहा– 'मैं एक हूॅ, अब अनेक बनना चाहता हूॅ– एकोहं बहुस्याम।' जब उसके मन में अपने अंदर विराजमान समग्र स्वरूप को प्रकट करने का विचार जागा, तभी इस सृष्टि का जन्म हुआ। उसके अंतःकरण में विद्यमान गूढ़ और प्रच्छन्न संसार का आविष्कार हुआ अर्थात् इस प्रकृति का निर्माण हुआ।

जब उसने बाहर निकलकर स्वयं को देखने का विचार किया तो उसे यह ब्रहााण्ड दिखाई पड़ा। कहा जाता है कि सृजन करना ब्रहण का कर्त्तव्य है अर्थात् स्वभाव है। अपने स्वभाव के अनुसरण में से ही यह सारी लीला प्रकट हुई है।

यह तो प्रकृति की बात हुई : प्रभु के सृजन की बात हुई। ईश्वर ने मनुष्य का सृजन किया और उसे अपनी सृजन–शक्ति प्रदान की। मनुष्य के सृजन भी मनुष्य की अनंत–शक्ति के समान ही अगणित हैं। साहित्य एक सृजन है, चित्रकला दूसरा सृजन है, संगीत तीसरा सृजन है और स्थापत्य चौथा सृजन है। इस तरह गिनने बैठ जाएं तो मनुष्य के द्वारा बनाई गई अनेकानेक कृतियों को गिनाया जा सकता है।

इस प्रकार कहना न होगा कि समूचा विश्व प्रकृति के तथा मनुष्य के सृजनों से चारों ओर भरा हुआ है, सुशोभित है।

वर्षा होती है, नदी–तालाब सब छलाछल भर जाते हैं, धरती हरी साड़ी पहन लेती है, पेड़–पौधे मस्ती से डोलने लगते हैं। पशु–पक्षी कल्लोल करने लगते हैं, सूर्योदय या सूर्यास्त होता है कि पल–पल समूचे आसमान में नए–नए रंग छाए नजर आने लगते हैं, वसंत ऋतु आती है और वनदेवी नव–पल्लवित होती है, फल–फूलों से उसकी गोद भर जाती है, मोर–कोयल कलरव करने लगते हैं, भंवरो–तितलियों के रंग–बिरंगे पंख फड़फड़ाने लगते हैं– ये सब और ऐसे अन्य अनगिनत प्राकृतिक सृजन प्रकृति के नियमानुसार होते ही रहते हें और होते ही रहेंगे। इनके स्वतंत्र विकास में न कोई बाधक बनता और न ही बन सकता। इनके लिए न तो कोई सामाजिक रुढ़ि का बंधन है और न धार्मिक बेड़ियों की कोई कैद है। यही कारण है कि प्रकृति के तमाम सृजन नित्य नए, सदैव ताजे, सदैव मोहक और सदैव सरस बने रहते हैं। हां, प्रकृति को भी नियंत्रित करने वाले मनुष्य हैं। प्रकृति के वन–वैभव को नष्ट करके रेलगाड़ियां चलाने वाले, स्वच्छंद भाव से विचरण करने वाले पशु–पक्षियों को पिंजरों में बंद करके, उनको हंटर जमा कर सरकस के खेल दिखाने वाले लोग यहां मौजूद हैं। प्रकृति को तिजारत का साधन बनाने वाले जड़वादी लोगों से यदि प्रकृति देवी भयभीत न हो उठ, तो कैसा आश्चर्य! लेकिन अभी तक प्रकृति की हत्या नहीं हो सकी है, न हो सकेगी। प्रकृति के प्राण बड़े ही प्रबल हैं। लेकिन मनुष्य द्वारा किए गए सजृन का हनन लंबे समय से होता चला आ रहा है और होता ही रहता है। जब–जब भी मनुष्य ने अपने सृजन के हनन के खिलाफ बगावत की है, तब–तब स्वयं मनुष्य का हनन हुआ है इतिहास ऐसे उदाहरणों से अटा पड़ा है। हनन का यह काम हमारी संस्थाएं करती हैं, रूढ़ियों की गुलामी में फंसा हमारा समाज करता है, जड़वत बने हमारे शास्त्र करते हैं। सिर्फ परिणाम देखने वाली हमारी शिक्षण–संस्थाएं करती हैं तथा अज्ञान के अंधकार में निमग्न हमारे घर–परिवार करते हैं। लगता है मानो इन सब ने मानवीय आत्मा के आविर्भाव को कुंठित करने का सामूहिक प्रयत्न किया है और नई–नई सोची–समझी कार्यवाही की है। इसके बावजूद कई बीज ऐसे होते हैं जो पत्थर को तोड़कर फूट निकलते हैं और प्रबल आंधी–तूफान में भी स्थिर बने रहते हैं, इसी प्रकार कुछ प्रबल आत्माओं ने उपर्युक्त संस्थाओं के संकीर्ण तट–बंधों को तोड़कर सृजन के सागर को उछाला है और उसमें से भांति–भांति के कलात्मक मोतियों का बहुमूल्य उपहार मानव जाति को प्रदान किया है। इसके विपरीत जहां–जहां बंधनों में जकड़े हुए गुलाम मनुष्य ने सृजन कार्य किया है, वहां–वहां वह सृजन रुग्ण एवं विकृत बना है, सजृन का, सृजनकर्त्ता और सिरजनहार का अपमान ही हुआ है। इसके दृष्टांत हैं ये अनाथालय, कलाकारों की निर्माल्य कृतियां, कवियों की उदरपूर्ति वाली हताशा काव्य कृतियां, ये संगीत की मजलिसें, नाट्य मंच, मासिक पत्र–पत्रिकाएं और प्रदर्शनियां आदि।

अपने ही विचारों का आग्रह रखने वाला मनुष्य अपनी भावी पीढ़ी को अपनी शक्ति तथा अपने ज्ञान की विरासत सौंपने में अपना धर्म और अभिमान समझता है। वहीं इस बात का निर्णय भी करता है कि बालकों को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। वस्तुतः इस निर्णय में ही बालक की सजृन–शक्ति का हनन छिपा है।

: 2 :

घर और विद्यालय दो ऐसे स्थल हैं जहॉ बालकों की सृजनशीलता का सहज स्वाभाविक रीति से विकास होता है और यही वे स्थल हैं जहॉ उनके सृजन को रोकने, विकृत करने अथवा निर्मूल करने का काम होता है।

जो लोग अपनी आंखों को खुला रखकर देखते हैं उन्होंने देखा होगा कि बालक धूल में लकीरें खींच रहा है, वर्षा ऋतु में गीली मिट्टी से लड्डू सांध रहा है, मिट्टी से पकौड़े अथवा चकला–बेलन बना रहा है, गीली मिट्टी की ढेरी में पैर डालकर मकान बना रहा है अथवा माटी की दीवार बना कर वर्षा के पानी को रोक रहा है अथवा पत्थरों व गारे से छोटा–सा मकान बना रहा है। उन्होंने देखा होगा कि सरकंडे के गूदे से बालक बैलगाड़ी अथवा खाट बना रहा है कहीं आटे से भरी परात में हाथों की छाप अंकित कर रहा है या तरह–तरह की डिजाइनें बना रहा है, यदि मां ने चावल निकाल रखे हैं तो उन्होंने बालक को उसमें गड्ढा बनाकर रंगोली या गोलाकृति बनाते देखा होगा। कहीं बालक हाथ में आई पेंसिल से कागज पर या कोयले से दीवार पर टेढ़ी–तिरछी लकीरें बना रहा है, कहीं कैंची से अपने या दूसरों के बाल काट रहा है अथवा

कागजों या कपड़ों के टुकड़े काट–काट कर तरह–तरह की नई आकृतियां बना रहा है, तो कहीं बेली हुई रोटी पर कटोरी या गिलास रखकर उसकी मदद से नई–नई ज्यॉमितिक आकृतियां बना रहा है।

यदि आंखें हैं तो उन्होंने बालक को अपने छोटे–छोटे हाथ–पैर हिलाते, तालियां बजाते या नाचते–कूदते देखा होगा। अवश्य ही उन्होंने बालक को कभी फूलों की साज–सजावट करते, कभी घर के बर्तनों को सजा–सजा कर रखते, कभी पिताजी की किताबों को सिलसिले से रखते, तो कभी घर में आए मेहमानों के जूते एक कतार में रखते देखा होगा। उन्होनें प्रायः देखा होगा कि बालक अपनी परछांई पर खड़ा होकर अपनी नकल किया करता है या फिर दूसरों की नकल उतारता है।

यदि हमने गौर किया है तो अवश्य ही नन्हें बालक को बर्तन गिरा कर उसकी ध्वनि पहचानने, दरवाजे की सांकल खटखटा कर, घंटी बजाकर अथवा ढोल–झांझर बजाकर उनको ध्वनि–संगीत सुनने की कोशिश में लीन देखा होगा। आपने देखा होगा कि बालक किसी अलमारी पर बारबार अपने हाथों की थाप देता रहता है या खाली झूले को घंटों झुलाता है या खाट पर बैठकर अपने पैर हिलाते–हिलाते एक प्रकार की ताल का अनुभव करता है। हमने छोटे बच्चों को हंसते हुए आपस में मिलकर एक–दूसरे को प्रेम–चुम्बनों से नहलाते तथा निर्ब्याज प्रेम का अनुभव करते देखा होगा। हमारे लिए ऐसे बालक नितांत अपरिचित–अनजान नहीं होते, जो दिन–दिन भर कोई एक शब्द गुनगुनाते फिरते रहते हैं अथवा किसी कहानी की तुकबंदी को कई–कई दिनों तक याद कर करके रटते रहते हैं, अथवा जो कभी आसमान के नीचे लेटे–लेटे गगन–विहारी बालकाव्य की रचना करते है या गर्मियों की किसी दोपहरी में अर्द्ध–जाग्रत, अर्द्ध–निद्रित अवस्था में जो प्रकृति की या मनुष्य की कृति की छाप पर से अथवा घर–बाहर के अनुभवों से रंग–बिरंगे सपनों की रचना करते रहते हैं।

बालक की ये तमाम कृतियां बाल–सृजन के व्यक्त–अव्यक्त, स्पष्ट–अस्पष्ट, छोटे, लेकिन सादे व सुंदर नमूने हैं। इनमें कहीं संगीत है, कहीं साहित्य है तो कहीं कला है। स्थापत्य और शिल्प के बीज भी इनमें हैं। कदाचित किसी चित्रकार को बालक की इन छोटी–छोटी रेखाओं में समय तथा साधनों का अपव्यय नजर आए, कदाचित किसी गवैये को बालक का गायन कर्णकटु और बेसुरा लगे; कदाचित किसी नामी साहित्यकार की दृष्टि से बालक की नन्हीं कली–सी खिलती वाणी व्यर्थ का प्रलाप मात्र हो। यदि ऐसा लगता है तो भले ही लगे। लेकिन जो व्यक्ति बाल मन के गहन गंभीर प्रदेश से सुपरिचित है, जिसने बालक के विकास को एक–एक डग अपनी नजरों से देखा है, उसे पूर्ण विश्वास है कि इन्हीं रेखाओं के पीछे भावी चित्रकार खड़ा है, गारे–पत्थर के नन्हें मकानों के पीछे किसी वास्तुकला–विशारद की आत्मा विद्यमान है, गारे के बने छोटे–छोटे सांचों में मोम की पुतलियां बनाने वाला या संगमरमर का अद्‌भुत शिल्प रचने वाला कोई समर्थ शिल्पी छिपा है; छोटी–छोटी इल्लियों को संग्रहीत करने वाला या तितलियों के पंखों और उनके सुंदर रंगों को देखने वाला या तो कोई चित्रकार है या कोई शोधकर्ता है या विश्व–प्रेमी है। ऐसा व्यक्ति छोटे–छोटे दो पत्तियों वाले आम के नन्हें पौधे में किसी माली की भांति आम के दर्शन करता है, एक ग्वाले की छोटी–सी बछिया में दूध–दही–घी के दर्शन करता है। इसी तरह वह व्यक्ति भी बालकों के छोटे–छोटे सृजन में कला की विश्वविख्यात कृतियों के –पोम्पई के स्तंभों, ताजमहल के सौंदर्य, रैफेल व अवनीन्द्रनाथ की चित्रकृतियों, टेगौर की गीतांजली अथवा टालस्टाय की लघु–कथाओं के दर्शन करेगा।

लेकिन यह सब वही कर सकता है जिसके पास बालकों के इस वैविध्यपूर्ण सृजन को देखने समझने की दृष्टि हो। ऐसे ही लोग बाल–सृजन का सम्मान करते हैं, उनमें रस का संचार करते हैं, उनकी सामग्री को समृद्ध बनाते हैं तथा उन्हें प्रोत्साहित करते हैं।

पर जरा हम अपने घरों में थोड़ा झांककर तो देखें और इस बात की छान–बीन तो करें कि वहां बाल–सृजन की क्या दशा है! आप किसी भी घर में जाकर देखेंगे तो वहां आपको कुछ इस तरह की बातें सुनने को मिलेंगी :'हाय हाय, अरे ओ नासपीटे! तूने गूंदे हुए आटे का यह चूहा क्यों बनाया है? क्या यह किसी मुसलमान का घर है? ब्राह्मण के घर में तेरे जैसा यह काफिर कहां से पैदा हो गया?' 'मुए ! अब तो तू चुप हो जा। बहुत राग अलाप लिया। मेरा तो सिर दुखने लगा है। बड़ा गवैया बन गया है।' 'अबे गधे! तूने यह दीवार क्यों काली कर डाली? बस, कोयला हाथ आया नहीं कि तूने रेलगाड़ी, पुल और नदियां बनाई नहीं! याद रख, इनसे पेट नहीं भरेगा और तू भूखा मरेगा, भूखा!'

आप किसी दूसरे घर के पास से निकालेंगे तो वहां आप देखेंगे कि बेटे ने पिता की स्याही से अपना मुंह रंग लिया है और मूंछें बना ली हैं। बाप बेटे को चांटा जमाते हुए कह रहा है : 'बोल, फिर कभी करेगा ऐसे? कहने दे तेरे मास्टरजी से।'

किसी बालिका को अपने मन की मौज में नाचते या हाथों–पैरों से अभ्यास करते देखकर उसकी मां उससे कह रही होगीः 'अरी ओ अभागिन! तू जरा इधर मर! अभी धुनती हूं तेरी पीठ। ये नखरे यहां नहीं चलेंगे। ये तो नायकों के लच्छन हैं।'

कोई बालक अपने भीतर की नाट्यवृत्ति को व्यक्त करने के लिए पक्षियों जैसी आवाज निकालेगा अथवा किसी के हावभाव की अनुकृति कर रहा होगा कि मां उससे कह रही होगी : 'तू बड़ा नौटंकी बाज़ बन रहा है। याद रख, अगर तूने किसी की नकल उतारी तो पिटाई कर दूंगी।'

बालक–बालिकाओं की इच्छा होती है कि मिलाकर साथ–साथ खेलें। वे सहजीवन की पहली सीढ़ी पर चढ़ना चाहते है। प्रेम की दुनिया के अव्यक्त अनुभवों को अपने अनुभवों की सीमा मे लाने का प्रारंभ करते हैं, तभी खिड़की में से झाँककर मां डपट भरी आवाज में कहती हैः 'अबे ओ नादीदे! उधर कहां जा रहा है, लड़कियों के संग खेलने?' दूसरी तरफ से लड़कियों को मां कहेगीः 'भला इन लड़कों के साथ तुम कैसे खेल सकती हो? वे ठहरे लड़के! '

मान लें कि घर में कोई नन्हा बालक है। बड़ी बहन की इच्छा है कि छोटे भाई को खिलाए। भाई के प्यार में पगी बहन अपने छोटे भाई को गोदी में लेकर सीने से दबाती हूई उसे चूमने लगती है कि तभी मॉ गरजती हूई आकर कहती हैः 'अरी ओ अभागिन ! क्या तू इसे मार डालना चाहती है? हाथ में से छूट जाएगा तो? नीचे लिटा दे इसे!'

पिता भी मां से कुछ कम नहीं। उन्हें देखते ही बच्चे सहसा सहम जाते हैं, किसी कोने में छिपकर बैठ जाते है। मां चाहे जितनी मारपीट क्यों न करती हो, पर बालक उसकी गोद में जा कर छिप जाता है। भला ऐसे पिता के साये में सृजन कैसे संभव है? यदि स्याही से हाथ गंदे हो गए या पेंसिल से दीवार पर लकीरें खींच दी तो पिता कहेंगे 'चल, रख दे यह सब एक तरफ सबक याद करने बैठ।' सृजन की ऐसी हत्या के अनेकानेक उदाहरण हैं, तभी तो आज की हमारी मामूली–सी कला, निष्प्राण–सा साहित्य और रसविहीन नाट्य–प्रयोग हमारी आंखों के ही सामने होली की तरह धू–धू करके जलते हैं। इन सब के उपरांत हमें आशा है कि कोई ऐसा बिरला पिता प्रकट होगा जो अपने बालक के प्रत्येक बोल में साहित्य रूपी अमृत के दर्शन करेगा, उस अमृत का पान करेगा और उसका पोषण करने वाला बनेगा, आशा है कि कोई ऐसा कला–रसिक पिता मिल जाएगा, जो अपने बालक को मूंछे बनाने के लिए रंग लाकर देगा अथवा कपड़ों के टुकड़ो को रंगने के लिए तरह–तरह के रंगों की व्यवस्था कर देगा और रंग–बिरंगी खड़िया मिट्टी लाकर दिया करेगा, अवश्य ही कोई ऐसी उदार मां मिल जाएगी जो बालक को हल्दी, हींग, नमक, मिर्च इकटठा करने देगी और उनसे रंग बनाने के प्रयोग करने देगी; आशा है कोई ऐसी कला रसिक मां भी होगी, जो गारे–माटी लगने से अधिक सुंदर बने अपने बालक को ललक के साथ उठाकर उसको चूमेगी और खड़िया–मिटट्ी से या पेंसिल से बालक द्वारा बनाई गई आड़ी–टेढ़ी रेखाओं को संभाल कर अपनी तिजोरी में रखेगी और किसी चित्रकार को अपने घर आया देखकर उससे कहेगी : 'देखिए, ये चित्र मेरी इस पागल बेटी ने बनाए हैं।' अथवा कोई ऐसी अलबेली मां भी मिल जाएगी जो दूर बैठी अपनी मनमौजी पुत्री की हलचलों का आनंद लेती होगी। पुत्री किसी चट्टान के पास लेटी–लटी आकाश के तारों को और उड़ते हुए पक्षियों को देखकर किसी सही–गलत काव्य–अकाव्य की रचना में लीन होगी और मां दूर बैठी उसके शब्दों को लिख लेती होगी और उस पर अपने भाष्य की रचना का आनंद लूटती होगी। पर यह तो अपवाद होगा– खारे समुद्र में मीठे पानी की धारा की भांति।

: 3 :

अब जरा हम यह देखें कि शालाओं में बालकों के सृजन का हनन किस तरह से होता है। घर की तुलना में विद्यालय बाल–सृजन का एक बड़ा कतलखाना है। घर में बालकों को जो आजादी मिलती है, वैसी

विद्यालयों में कत्तई नहीं होती। विद्यालय कहता है: 'बस, लिखो, पढ़ो गिनो, इतिहास याद करो, भूगोल रटो, संगीत रटो, चित्र रटो।' भला इसमें सृजन कहां है? जहां बिना अर्थ समझे, बिना रुचि के, बिना अनुभव के महज रटना ही रटना हो, वहां साहित्य संगीत और कला का शिक्षण निष्फल ही होता है। ऐसे में कला का सृजन सर्वथा असंभव है। कला का मूल गहन व तीव्र अनुभूति में निहित है। जब कोमल–कठोर, कड़वी–मीठी, तीव्र–मंद भावनाएं कभी–कभार आपस में टकराकर झनझना उठती हैं, तब कला का जन्म होता है। कला जीवन–मंथन से प्रकट होती है, वह समूचे जीवन का निष्कर्ष होती है। कला जो जीवन–सौंदर्य का परिमल है। ऐसी कला का सृजन वहां कैसे हो सकता है जहां मात्र रटने ही रटने का शिक्षण दिया जाता हो?

जब बालक अपने घरों के अनुभव बड़े ही उत्साह के साथ अपने साथियों को सुनाने लगते हैं, जैसे 'आज हमारे घर में एक नया भाई आया है, उसकी हथेलियां रेशम जैसी मुलायम–मुलायम और गुलाबी हैं 'मुन्नी तो अब घर में दौड़ने–फिरने लगी है और वह सबको चूमती रहती है' आदि–आदि, कि तभी मास्टरजी भौंहे ताने मुंह बिगाड़कर बोल उठते हैं: 'ऐ, चलो पहाड़े लिखो', या 'मैं बोलता हूं तूम लिखो – 'परोसा', 'भट्ठी' या 'लिखो– एक लड़के के दो कान हैं तो दस लड़कों के कितने कान हुए?' अथवा शिक्षक बोलते हैः

हे ईश्वर रटते तुम्हें

बड़ा तुम्हारा नाम।

गाते हरदम गुण तेरे

पूरण करना काम ।।

बालक को विद्यालय की चहारदीवारी में बंद कर देने के बाद उसकी कक्षा की एकाध खिड़की यदि सौभाग्यवश खुली रह गई हो और उसके द्वारा बालक को उदार प्रकृति का अपूर्व दर्शन सहज होता रहता हो तो अध्यापकजी इस डर से कि कहीं बालक का ध्यान कक्षा की पढ़ाई से हट न जाए, उस खिड़की को ही बंद करवा देते हैं।

हम बालक को वर्तनी का तथा संयुक्ताक्षरों का पक्का अभ्यास करा देते हैं। व्याकरण मे एक भी गलती न हो, इसके लिए हम बालक के और अपने खून का पानी करते हैं। वर्ष के अंत तक वही की वही पुरानी तीन कहानियां बार–बार भौंड़ी रीति से बालकों को सुनाते रहते हैं और परीक्षा या प्रदर्शन के समय उन्हीं कहानियों को बालकों के पेट से निकलवा लेते हैं। तोते की तरह उन्हें कविता रटाते हैं और फिर एक डॉक्टर की तरह बेदर्दी से व्याकरण, पृथक्करण, पिंगल व्युत्पत्ति आदि औजारों के द्वारा चीरफाड़ करके बालकों की धज्जियॉ उड़ा देते हैं। इसी को हम भाषा व साहित्य का अध्ययन करना चाहते हैं। इसी से हम बालकों से साहित्य के क्षेत्र में नई रचनाओं और नए सृजन की अपेक्षा रखते हैं।

चित्रकला और संगीत का स्थान तो बालकों के शिक्षण में बहुत ही अल्प होता है। सीधी रेखा द्वारा चित्रकला का और सारेगम से संगीत की शिक्षा का आरंभ करना ठीक वैसा ही है जैसे मृत देह से जीवन का आरंभ करना।

जिस विद्यालय की दीवारों पर जाले लटक रहे हैं या झाड़–झंखाड़ खड़े हैं, जिसकी दीवारों पर अगर कुछ टंगा भी है तो शायद कोई फटा पुराना एकाध चित्र, दीवारों का पलस्तर उखड़ा हुआ हैं, जगह–जगह गड्ढे बन गए हैं, जहॉ पानी पीने के बरतन न मांजे जाने से काले और गंदे हो गए है, अथवा जिस विद्यालय के आसपास सब्जी मंडी के जैसा शोर मचा रहता है, सड़क पर होने वाली कहा–सुनी और तकरार की आवाजें जहां बालकों के कानों में सहज ही पड़ती रहती हैं; जहां बालक खड़े–खड़े या तो गली–कूचों की गंदगी देखते हैं या मोटरों–ट्राम–गाड़ियों की दौड़–भाग देखते हैं या नगरपालिका की कचरा–गाड़ी को देखते रहते है, अथवा जिस विद्यालय में सभी बालकों के बैठने लायक पर्याप्त स्थान न होने से गंदे व बदबू भरे बालक आपस में एक–दूसरे की गंदगी को बढ़ाते हैं, जहां शिक्षकों की गंदी पोशाकें और उनके गंदे चेहरे उस गंदगी में वृद्धि करते हैं, जहां विद्यालय की टूटी बेंचें, बेकार पड़े श्यामपट्ट, सड़े हुए डस्टर, बालकों और अध्यापकों

के बेतरतीब बिखरे जूते विद्यालय की शोभा को नाना प्रकार से बढ़ाते रहते हैं, उस विद्यालय में संगीत अथवा शिल्पकला की आत्मा किस प्रकार विकसित हो सकती है? वहां नूतन सृजन कैसे संभव है?

सृजन कार्य न पाठ्यक्रम के अधीन है, न किसी समय–विभाग–चक्र के। गणित में मन न लगने पर यदि कोई बालक सवाल हल करने के बजाय अपनी पट्टी पर चित्र बनाए और संयोगवश शिक्षक उसका चित्र देख ले तो आप सोच लीजिए कि उस बालक को अपने सृजन–कार्य की कितनी भारी कीमत चुकानी पड़ेगी? उसके गाल पर एक तमाचा पड़ेगा, पट्टी का प्रहार होगा और गणित के श्यामपट के समक्ष गंभीर चेहरा बनाकर स्थिर खड़ा होना पड़ेगा। कक्षा में व्याकरण की पढ़ाई के चलते यदि किसी बालक के दिल में कभी घर पर सुने किसी गीत की कड़ी गुनगुनाने की लहर आ जाए और वह गुनगुना उठे तो उसे तत्काल सुनने को मिलेगाः 'ऐ, चुप! कौन गड़बड़ कर रहा है? इधर आ। बड़ा गवैया आया है। गाना ही है तो अपने घर जाकर गा, तुम यहां गाने के लिए नहीं आए हो, समझे!' यदि कोई शिक्षक बालकों को कक्षा में कपड़े के टुकड़े से गोल, हरिण या खरगोश बनाते, कागज से नाव, टोपियां या दवात बनाते, किसी डोरी से मोर का पंजा बनाते देख ले तो क्या वह उन्हें 'प्रसाद' दिए बिना रहेगा? बालकों को प्रकृति के प्रांगण में ले जाने, वहां उनको प्रकृति की गोद में घंटों लोटने देने, बंदरों की भांति पेड़–पेड़ पर चढ़ने व कूदने देने, कलकल बहती नदी के किनारे ले जाकर उन्हें अपनी अंजलियों से जी भर कर पानी पीने देने, जंगली फूलों को तोड़कर उनकी मालाएं बनाने, रेशों से रस्सी बंटने और ऐसे ही भांति–भांति के काम करने देने की व्यवस्था क्या आज के पाठ्यक्रम में है? यदि नहीं है तो बालकों के सृजन का प्रश्न किससे पूछा जाए?

कुछ शालाओं में बालकों के लिए सृजनात्मक विषयों की सामग्री इकट्ठी की जाती है। वहां बालकों को बंगला बनाते, चटाई गूंथते, रंग भरते, कागज काटते या सिलाई–कढ़ाई का काम करते देखते हैं। वहां के शिक्षकों को हम बालकों के साथ अनेक प्रकार के काम करते देखते हैं। वे उन्हें कहानियां सुनाते हैं, गीत गवाते हैं, वे उनके साथ नाचते, कूदते, खेलते और हंसते–हंसाते हैं। वहां हमको छोटे–छोटे बाल–संग्रहालय देखने को मिलेंगे। सुंदर–सुंदर खिलौने मिलेंगे, तरह–तरह की गुड़ियाएं गुड्डे मिलेंगे। पर साथ ही साथ ऐसी शालाओं के सृजनात्मक वातावरण में हमें लालच और इनाम के बनावटी रस की बू अवश्य आएगी।

शिक्षक के अनुकरण में सृजन नहीं है, सृजन नकल में नहीं है। बनावटी उत्साह के नशे में किया गया सृजन सच्चा सृजन नहीं कहलाता। जब आंतरिक उमंग से, मानो अंतर को ही खाली करने या व्यक्त करने के लिए जहां अन्तर स्वयं प्रकट हो जाता है, वही सृजन कहलाता है। इस प्रकार का सृजन काव्य के, संगीत के, चित्र के अथवा किसी भी ललित कला के माध्यम से हो सकता है। सृजन स्वतंत्रता की देन है। जब सृजन स्वयं–स्फूर्त होता है, जब सृजन स्वानुभव से उपजता है, जब सृजन आत्मसाक्षात्कार के लिए होता है, तभी वह सच्चा विद्यालय है। इससे भिन्न दूसरे विद्यालयों को तो मैं कतलखाने ही कहूंगा। जब तक हमारे विद्यालय ऐसे सृजन के लिए वांछित सभी प्रकार की व्यवस्था नहीं कर लेते, तब तक उन्हें अपना अस्तित्व बनाए रखने का कोई अधिकार नहीं है।

: 4 :

उपर्युक्त विवेचन से जाहिर है कि आज के हमारे विद्यालय सृजन के कितने विरोधी हैं!

सच्चा सृजन शांति, प्रसन्नता, एकाग्रता, निर्भयता, स्वतंत्रता एवं स्वयंस्फूर्ति द्वारा प्रकट होता है। घरों, शालाओं अथवा समग्र जीवन में जहां इन चीजों का अभाव होगा, वहां सच्चे सृजन को लेकर संशय ही बना रहेगा। हमारी वर्तमान कलाकृतियों की दरिद्रता तथा हमारी ह्रासमान रसिकता इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि हम स्वाभाविक सृजनात्मक कार्यों की दृष्टि से आज कहां है? यदि हम अपने समग्र जीवन पर दृष्टि डालकर देखें तो ज्ञात होगा कि हमारा जीवन सत्य से कितनी दूर चला जा रहा है। ऐसे में असत्यजीवी जनता के जीवन में से सत्य स्वरूप सृजन कैसे संभव है?

सृजन के प्रखर शत्रु हैं दंड, पुरस्कार, परीक्षा ओर प्रदर्शन। दंड के भय से या तो आदमी छिपकर सृजन करता है या फिर सृजन की उसकी प्रेरणा, उसका प्राण भय के मारे विलुप्त हो जाता है। छिपे हुए अथवा विकृत सृजन के उदाहरण स्वरूप आज हमारे सामने जेलखाने, दवाखाने, पागलखाने खड़े हैं। पुरस्कार और

स्पर्धा के कारण उत्पन्न हुए स्वार्थपरायण व्यापार–धंधे, युद्ध तथा राजनीति हमारे समक्ष मौजूद ही हैं। हम जगह–जगह देख रहे हैं कि एक तरफ परीक्षा के कारण बहिर्मुख बना मनुष्य कितना छिछला, दंभी, ढोंगी तथा ठग बन चुका है और वह कितना मिथ्याभिमानी व अंहकारी बन चुका है। दूसरी तरफ हम यह भी देखते है कि वहीं मनुष्य कितना हताश, निरुत्साह, अपनी ही आत्मा का अपमान करने वाला तथा जीवन–रस से विहीन बन चुका है। प्रदर्शनों ने हमें परजीवी, खुशामदी और गुलाम बना डाला है। आज के हमारे कई रंगमंच, सरकस, संगीत–सम्मेलन और नृत्यांगनाओं के नाच ऐसे ही प्रदर्शनों के प्रतिफल हैं। उपर्युक्त चार कारणों से मनुष्य की आत्मा के सृजन या तो विकृत होते जा रहे हैं या लुप्त हो रहे हैं। यदि हमारे घर और विद्यालय बालकों को इन बुराइयों से बचा सकें तो सच्चे सृजन की आशा की जा सकती है अन्यथा बालकों के तथा समूची जनता के सृजन पर तलवार तो लटक ही रही है।

गिजूभाई, प्राथमिक शाला में कला व कारीगरी शिक्षण

मोंटीसेरी बालशिक्षण समिति, राजलदेसर चूरु,२००६